सुभद्रा कुमारी चौहान

भारतीय साहित्य के निर्माता

सुभद्रा कुमारी चौहान

लेखिका

सुधा चौहान

साहित्य अकादेमी

Subhadra Kumari Chauhan : A monograph by Sudha Chauhan on the Hindi poetess. Sahitya Akademi, New Delhi, (1990),

प्रथम संस्करण : १६८१
द्वितीय संस्करण : १६६०

साहित्य अकादेमी

प्रधान कार्यालय
रवीन्द्र भवन, 35, फ़ीरोज़शाह रोड, नयी दिल्ली 110 001

विक्रय विभाग
'स्वाति', मन्दिर मार्ग, नयी दिल्ली 110 001

क्षेत्रीय कार्यालय
जीवन तारा भवन, 23A/44X, डायमन्ड हारबार रोड,
कलकत्ता 700 053

172, मुम्बई मराठी ग्रन्थ संग्रहालय मार्ग, दादर, बम्बई 400 014

29, एलडाम्स रोड, (द्वितीय मंजिल), तेनामपेट, मद्रास 600 018

SAHITYA AKADEMI
REVISED PRICE Rs. 15.00

मुद्रक :
डिसेन्ट ग्राफसेट, A-73, नारायणा फेज I, नई दिल्ली 110028

१

बहुत पहले, इस सदी के शुरू-शुरू की बात है। उस समय पूरे हिन्दुस्तान में सब तरफ़ एक नव जागरण की लहर-सी आई हुई थी। समाज के नेता शिक्षा के प्रसार के लिये, जिसमें स्त्री-शिक्षा भी सम्मिलित थी, प्रयत्नशील थे क्योंकि विदेशी शासन की बेड़ियों को काटने के लिये, शिक्षा सबसे आवश्यक अस्त्र है इसे वे अच्छी तरह समझते थे। सामाजिक कुरीतियों और अंधविश्वासों को नष्ट करने की आधारशिला स्त्री-शिक्षा के बिना नहीं रखी जा सकती थी, इसके लिये पर्दे का विरोध करना भी जरूरी था। यह जागरण की हवा दूर-दूर, नगर-गांव सभी जगह पहुंच रही थी। तो फिर इलाहाबाद और उससे लगा हुआ एक छोटा-सा गांव निहालपुर इससे कैसे अछूता रहता! सन् १९११-१२ की बात होगी। निहालपुर में ठाकुर रामनाथसिंह के मकान की छत पर स्त्रियों की एक सभा हो रही थी। ठाकुर साहब की अपनी चार बेटियां थीं, दो भतीजियां थीं और पास-पड़ोस की लड़कियों को मिलाकर दस-बारह लड़कियां हो गयी थीं, जिनकी उम्र छः-सात वर्ष से लेकर सोलह-सत्रह वर्ष तक की थी। एक लड़की सभापति बनी थी और दूसरी भाषण दे रही थी। बड़ा जोशीला भाषण था, कि स्त्रियों की दशा कितनी हीन है! अपनी दशा सुधारने के लिये उन्हें पढ़ना चाहिए, पर्दे को छोड़ देना चाहिए। भारत की नारी का प्राचीन इतिहास कितना गौरवमय है। हम सब उन्हीं वेद की रचयिता मैत्रेयी और गार्गी की सन्तान हैं। वीरबाला लक्ष्मीबाई और दुर्गावती की वंशज हैं। श्रोताओं में सात-आठ साल की सुभद्रा भी मंत्रमुग्ध होकर भाषण सुन रही थीं। उसे बोलने का मौका नहीं मिल सकता था। यह जरा गंभीर तरह का खेल था। बड़ी लड़कियां ही इसकी कर्ताधर्ता और सूत्रधार थीं। ऐसे गंभीर विषयों पर सुभद्रा जैसी छोटी बच्ची क्या बोल सकती थी? परन्तु, यदि सुभद्रा को बोलने का मौका मिलता, तो वह चिल्ला-चिल्लाकर कहती कि हम घर के अन्दर नहीं रहेंगे, हम पर्दे में नहीं रहेंगे, हम भी बाहर खेलेंगे, नीम पर झूला झूलेंगे। उस समय तक यह प्रथा थी कि सम्भ्रान्त घरों की लड़कियां, सात-आठ साल की हुई नहीं कि उनका घर से बाहर निकलना बन्द हो जाता था। सुभद्रा की यह बड़ी दुखती रग थी। उनके घर के सामने ही नीम पर झूला पड़ा रहता

था, पर घर की लड़कियों को यह हुक्म नहीं था कि वे बाहर निकलकर झूलें। दोपहर को जब सब ओर सन्नाटा रहता, घर के आदमी अपने-अपने काम पर निकल गये होते, तब चोरी से, डरते-डरते, लड़कियां थोड़ी देर झूला झूल पातीं। और यदि दैववशात् कभी घर का कोई आदमी उसी समय लौट आता, तो इस भीषण अपराध के लिये वे सजा भी पातीं।

लेकिन जब इस नवजागृति की लहर से कोई भी अछूता नहीं बचा था, तो ठाकुर रामनाथ सिंह का घर भी कैसे बच पाता? उनके दोनों बेटे रामप्रसाद सिंह और राजबहादुर सिंह, घर की बड़ी-बूढ़ी स्त्रियों की इच्छा के विरुद्ध अपनी बहनों को पढ़ाने में रुचि रखते थे। दोनों भाई बड़े थे, उनकी प्रेरणा से पहले घर पर ही बहनों का शिक्षारम्भ हुआ। फिर धीरे-धीरे स्कूल जाने की भी शुरुआत हो गयी। छोटे भाई राजबहादुर सिंह, जिन्हें घर में रज्जू पुकारते थे, अपनी बहनों की पढ़ाई में विशेष रुचि लेते थे, और लिखने-पढ़ने के लिये उनको प्रोत्साहित करते रहते थे। लड़कियां खेल-खेल में तुकबन्दियां किया करती थीं। लोगों को, सुभद्रा में यह गुण है, यह सबसे पहले मालूम हुआ। घर में बच्चों को डराया जाता था कि यदि तुम लोग कहना नहीं मानोगे या ज़िद करोगे, तो गोगा आयेगा और तुम्हें पकड़ ले जायेगा। गोगा कोई काल्पनिक राक्षस था। बच्चे गोगा से डरते तो थे, पर गोगा कभी दिखाई नहीं देता था। इसी तरह बच्चों को यह भी सिखाया जाता था कि अगर तुम लोग झूठ बोलोगे, तो भगवान नाराज़ हो जायेंगे या बड़ों का कहना नहीं मानोगे, तो भगवान तुमसे गुस्सा हो जायेंगे। पांच साल की सुभद्रा को लगता था कि भगवान और गोगा दोनों से डर लगता है, पर दोनों कभी दिखाई नहीं पड़ते। बेचारी ने बहुत पता लगाने का प्रयत्न किया पर न भगवान को पा सकी और न गोगा ही मिला। अपनी इसी भगवान की खोजबीन में उसने भगवान के लिये यह तुकबन्दी बना ली :

तुम्हें बिना तड़पत सब लोगा।
तुम तो हो इस देश के गोगा॥

और उसे अपनी स्लेट-पट्टी पर लिख लिया। जब मां ने और भाइयों ने इसे देखा तो उन्हें हंसी भी आई और इस नन्ही-सी लड़की की तर्कबुद्धि पर अचरज भी हुआ।

कभी-कभी बहनों में कविता में ही उत्तर-प्रत्युत्तर भी होता था। जब कभी अच्छी तुकबन्दी बन जाती थी, तो शाम को रज्जू भैया को बताकर उनसे शाबासी भी मिल जाती थी। एक दिन रज्जू भैया ने अपनी चारों बहनों को बुलाकर कहा कि घर के सामने जो नीम का पेड़ है उस पर तुम लोग कविता लिखो। सभी बहनों ने नीम पर कविता लिखी। सुभद्रा ने नीम के परोपकारी और गुणकारी

रूप का वर्णन करने के बाद ईश्वर से प्रार्थना की कि जब तक नभ में चन्द्रमा, तारे और सूर्य का प्रकाश है, हे नीम :

तव तक हमारे देश में तुम सर्वदा फूलो-फलो,
निज वायु शीतल से पथिक जन का हृदय शीतल करो।

नौ बरस की सुभद्रा की यह कविता सन् १९१३ में तब की प्रसिद्ध पत्रिका 'मर्यादा' में छपी थी। स्वाभाविक है कि इससे सुभद्रा बहुत मगन हो गयीं। छोटी-छोटी तुकबन्दियां यों ही अनायास स्कूल जाते-आते, घर में खेल-खेल में बन जाया करती थीं। सोचा कि उन्हें एक कापी में साफ़-सुन्दर अक्षरों में लिख लिया जाये। कविता की कापी पर लेखिका की जगह अपना नाम लिखना बहुत अच्छा लगा, परन्तु सुभद्रा कुंवरि नाम तो बहुत छोटा-सा, कुछ अधूरा-सा लगा, और रज्जू भैया के प्रति अपना प्यार और अपने हृदय की कृतज्ञता को भी तो व्यक्त करना था। वह देखती थीं कि स्त्री लेखिकाओं की पुस्तकों पर उनका नाम बड़े भव्य, गरिमामय रूप में लिखा रहता था जैसे श्रीमती श्याम कुंवरि, धर्मपत्नी श्रीमान महोदय श्याम कृष्ण बहादुर, आदि-आदि। सुभद्रा ने अपनी कापी पर लिखा—लेखिका सुभद्रा कुंवरि, धर्मपत्नी ठाकुर राजबहादुर सिंह और कापी बहुत संभालकर रख दी। कभी घर के किसी व्यक्ति के हाथ वह कापी पड़ गयी, तो उसके बाद खूब हंसी हुई। अपने इतने प्रिय रहस्य के इस मखौल से सुभद्रा इतनी नाराज़ हुई कि वह कापी फाड़ डाली। कापी तो फट गयी, लेकिन अपनी भावनाओं की अभिव्यक्ति का यह जो एक माध्यम मिल गया था, वह तो उनका नितान्त अपना था, उसे वे कैसे छोड़ पातीं ? इसलिये कविता लिखने का क्रम तो चलता ही रहा।

भरा-पूरा संयुक्त परिवार था। घर के पिछवाड़े कुछ भड़भूंजों के घर थे, जिनकी गृहस्थी के सुख-दु:ख में लड़कियों को पूरी रुचि रहती थी। पड़ोस के घरों की स्त्रियों से भी बहुत मेलजोल था, तो उनके घरों के अन्याय, अत्याचार से ये अप्रभावित नहीं रह पाती थीं। पड़ोस की एक बहू को उसके परिवारवाले बहुत सताते थे—यहां तक कि वह न तो अपने मायके जा सकती थी और न वहां चिट्ठी ही लिख पाती थी। उसका दु:ख सुभद्रा से देखा न जाता था, एक बार उन्होंने उस बहू से चिट्ठी लिखवाकर उसके घरवालों से छिपाकर उसके मायके भेजी। और उसके बाद रोज राह देखने लगीं कि अब उसके मायके से कोई-न-कोई उसकी रक्षा के लिये आता है। लेकिन कोई नहीं आया। ऐसे ही एक बार की बात है, घर के पिछवाड़े रहनेवाले भड़भूंजे की बहू सुभद्रा की मां, जिन्हें सब बच्चे दीदी कहते थे, के पास आकर अपना कोई दुखड़ा रो रही थी, सुभद्रा भी पास खड़ी सुन रही थीं। बहू बातों की रौ में दीदी के कुछ ज़्यादा पास आ गयी। दीदी चौके में से निकलकर

आयी थीं, घबराकर बोलीं, "अरे देखो पत्थर न छू लेना।" वे जिस पत्थर पर खड़ी थीं बहू शायद उसके बहुत पास आ गयी थी। दीदी की बात सुनकर सुभद्रा को बहुत बुरा लग गया, बोली, "दीदी धरती के भी दो टुकड़े कर लो।" दीदी को बेटी पर बहुत गुस्सा आया, पर वे उसे गुस्से में एक तमाचा भी नहीं लगा सकती थीं, चौके में फिर से जाना जो था। अन्याय के प्रति विद्रोह की भावना सुभद्रा में शायद जन्म-जात थी। उनमें तेजस्विता के साथ-साथ मृदुता का निराला संयोग था। बहुत सम्भव है कि जिस मन में करुणा पहले से ही अपना साम्राज्य फैलाये रहती है, उसी मन में अन्याय के प्रति विद्रोह भी जन्म लेता है। क्रांति के लिये व्यापक सहृदयता का आधार शायद जरूरी होता होगा। अपने घर के नौकरों के साथ मिलकर सुभद्रा उनका काम करवा दिया करती थीं, और इस बात के लिये अक्सर डांट भी खाती थीं। पर उनका तर्क अपना ही था। वे कहती थीं कि ये बेचारे सोचते होंगे कि हम गरीब हैं इसलिये हमें इनके घर काम करना पड़ता है। अगर हम लोग भी इनके साथ काम करवायें तो इन्हें इतना बुरा न लगेगा। बचपन से ही अन्याय के प्रति विद्रोह और दीन-दुःखी के लिये करुणा, जो बीजरूप में सुभद्रा के मन में थी वह कालान्तर में उनकी कविताओं और कहानियों में पल्लवित-पुष्पित हुई।

पहले लड़कियां स्कूल के होस्टल में रहकर पढ़ती थीं, फिर किसी कारण से घर से स्कूल पढ़ने जाने लगीं। निहालपुर से क्रास्थवेट स्कूल तक का लम्बा रास्ता था। पर्दे लगे इक्के में बैठकर लड़कियां पढ़ने जाती थीं। लेकिन उस समय की जो सामाजिक स्थिति थी, घर के लोग डरते थे कि रास्ते में कहीं कोई इक्के का पर्दा न खींच दे और लड़कियों की बेइज्जती हो जाये, तो रज्जू भैया साइकिल पर इक्के के साथ रोज स्कूल तक पहुंचाने जाते थे और स्कूल खत्म होने पर वापिस लेने भी जाते थे। बड़े विरोध और संघर्ष के बीच ठाकुर रामनाथ सिंह की बेटियों की पढ़ाई चल रही थी।

बहुत संभव है कि इतनी विपरीत परिस्थितियों और इतने संघर्ष के बाद जो शिक्षा मिल रही थी, शायद इसी कारण वह शिक्षा केवल अक्षर ज्ञान और जोड़-घटाने, गुणा-भाग तक सीमित न रहकर सम्पूर्ण व्यक्तित्व के निखार की शिक्षा बन गयी। और सबसे बड़ी शिक्षा तो मन के संस्कार की शिक्षा होती है जो उसमें दया, करुणा, उदारता और बन्धुत्व की भावना विकसित करती है। वह शिक्षा अक्षर ज्ञान के बिना भी मिल सकती है, वह तो जीवन के विद्यालय में, उसके संघर्षों और तरह-तरह के अनुभवों से अनजाने ही मिलती रहती है। इस दृष्टि से सुभद्रा का जीवन बहुत सम्पन्न रहा। उनके बहु-आयामी जीवन, जिसके कितने ही रूप थे, पत्नी, गृहिणी, समाज सुधारक, लेखिका, सत्याग्रही, राजनीतिक कार्यकर्त्री, विधान सभा की सदस्या, विद्रोहिणी आदि उन अनेक स्तरों पर उनका जीवन

अनुभव सम्पन्न होता गया और उसी के साथ मन के परिष्कार की प्रक्रिया भी चलती रही।

लेकिन अभी तो किशोरी सुभद्रा पर्दे लगे इक्के पर बैठकर स्कूल पढ़ने जाती है। वह बड़ी कुशाग्रबुद्धि है, इसलिये अपनी शिक्षिकाओं को बहुत प्रिय है। अपनी सहपाठिनों और सहेलियों की भी बहुत सगी है, क्योंकि उसके पास सब के लिये समय है, किसी का कोई भी काम हो सुभद्रा बड़े मन से उसे कर देती है, मानो उसे अपना कुछ करना हो न हो। किसी शिक्षिका को किसी अवसर विशेष के लिये कोई छोटी-सी कविता चाहिए, तो वह सुभद्रा पर निर्भर कर सकती है। सहेली को अपनी पढ़ाई में कुछ सहायता चाहिए, तो उसके लिये भी सुभद्रा तैयार है और होस्टल में रहने वाली सखियों के लिये, तो उसके झोले से अमरूद, बेर आदि का छोटा-मोटा उपहार निकल ही आता है। होली पर जहां रात को बैठकर अपने लिये नये कपड़े सीती है, वहां पड़ोस के भड़भूंजों के बच्चों के लिये भी कुरते सी देती है, चाहे पुराने कपड़ों को फाड़कर ही सिये गये हों। भैया कभी कलकत्ते गये तो वहां से घर के सब लोगों के लिये कंघे लाये। जिस समय सबको कंघे मिल रहे थे वहीं पड़ोस की एक लड़की भी खड़ी थी। उसके लिये न तो कंघा आया था, न उसे मिला। पर सुभद्रा को यह बात अच्छी न लगी। बड़ी बहन सुन्दर को इसके लिये राज़ी कर लिया कि दोनों एक ही कंघे से काम चला लेंगी और अपना कंघा उस लड़की को दे दिया। मन की यह उदारता, जिसमें सबके लिये प्यार और सहानुभूति का अक्षय स्रोत होता है, आजीवन सुभद्रा के साथ रही आयी। आयु-जनित समझदारी और कठिन जीवन-संघर्ष भी उसे मलिन नहीं कर पाये।

पढ़ाई के अलावा सुभद्रा बोलती भी बहुत अच्छा थीं। वाद-विवाद प्रति-योगिता में अपने स्कूल की ओर से वह भाग लेती थीं। इलाहाबाद विश्वविद्यालय के कान्वोकेशन के समय क्रास्थवेट स्कूल की ओर से सिनेट हाल में एक समारोह हुआ उसमें स्कूल की ओर से केवल दो ही व्यक्तियों का भाषण हुआ—एक स्कूल की प्रिन्सिपल मिस मानकर का और दूसरा सुभद्रा का।

रज्जू भैया ने अपने सहपाठी लक्ष्मण सिंह से सुभद्रा की शादी तय कर दी थी। वे एक बार लक्ष्मण सिंह के साथ मिस मानकर से मिलने गये। बातों-बातों में रज्जू भैया ने मिस मानकर को बताया कि लक्ष्मण सिंह से सुभद्रा का विवाह तय हो गया है। मिस मानकर सुभद्रा को बहुत मानती व प्यार करती थीं। उन्होंने कहा कि आप इस लड़की का विवाह न करें। यह तो एक ऐतिहासिक लड़की होगी। इसका विवाह करके आप देश का बड़ा नुकसान करेंगे।

लेकिन लड़की का विवाह तो होना ही था। तत्कालीन समाज व्यवस्था में इससे इतर लड़की के लिये और कोई विधान नहीं था। इस बीच ठाकुर रामनाथ सिंह और उनकी पत्नी का देहान्त हो चुका था। बाकी सभी बड़ी बहनों के विवाह

हो चुके थे। अब सुभद्रा की ही बारी थी। बड़े भाई रामप्रसाद सिंह अपनी नौकरी के सिलसिले में इलाहाबाद से बाहर चले गये थे। रज्जू भैया सुभद्रा के विवाह की जिम्मेदारी से मुक्ति पाकर अपना भाग्य आजमाने बर्मा जाना चाहते थे। संयोग से अपने सहपाठियों में ही, लक्ष्मण सिंह में उन्हें एक ऐसा व्यक्ति मिल गया जो उन्हें अपनी इस विद्रोहिणी बहन के तेजस्वी स्वभाव के अनुरूप लगा।

लक्ष्मण सिंह चौहान बहुत दूर, खंडवा, के रहने वाले थे। उनके पिता बहुत पहले तीन छोटे बच्चों और निराधार पत्नी को छोड़ स्वर्ग सिधार चुके थे। उनकी मां ने बड़े कठिन संघर्ष से अपने छोटे-छोटे बच्चों को पाला-पोसा और प्रारम्भिक शिक्षा दिलाई थी। और ऊंची शिक्षा दिला सकने का उनका बूता नहीं था। लेकिन लक्ष्मण सिंह में आगे पढ़ने की अदम्य लालसा थी और उनकी इस इच्छा को पोषित करने वाले थे उनके अभिभावक स्वरूप गुरु पंडित माखनलाल चतुर्वेदी। आगे पढ़ने की इसी लगन के कारण माखनलाल जी से कानपुर में गणेश शंकर विद्यार्थी के लिये परिचय-पत्र लेकर वे आगरा पहुंचे। आगरा के बलवन्त राजपूत कालेज में राजपूत विद्यार्थियों को कुछ सुविधा मिलने का आश्वासन पहले ही मिल चुका था। वहां कभी ट्यूशन करके, कभी गणेश शंकर विद्यार्थी के पत्र 'प्रताप' के लिये कुछ लिखकर, कभी घर से कुछ सहायता पाकर उनकी पढ़ाई चलती रही।

बी० ए० करने के बाद कानून पढ़ने के लिये वे इलाहाबाद विश्वविद्यालय में आये। यहां भी इधर-उधर कुछ काम करके—जैसे कुछ महीने वहां से निकलने वाले एक साप्ताहिक पत्र 'अभ्युदय' के सम्पादकीय विभाग में नौकरी करके, कभी अंग्रेजी की किसी पुस्तक का अनुवाद करके लक्ष्मण सिंह की पढ़ाई चल रही थी। लक्ष्मण सिंह की भी रुचि लिखने-पढ़ने में थी। आगरा प्रवास के दिनों में उन्होंने सन् १९१३ में भारतीय प्रवासी कुलियों की हीन दशा पर 'कुलीप्रथा' नाम का एक नाटक लिखा था, जो 'प्रताप' में धारावाहिक रूप में छपा था। अंग्रेज सरकार की दृष्टि में यह नाटक आपत्तिजनक था। इसे छापने के कारण 'प्रताप' से जमानत मांगी गयी थी और पुस्तक रूप में छपने पर यह नाटक जब्त कर लिया गया था। देश-भक्ति और साहित्य-प्रेम, ये गुण लक्ष्मण सिंह में भी भरपूर थे। अब वही लक्ष्मण सिंह राजबहादुर सिंह के सहपाठी थे और इन्हीं को उन्होंने अपनी बहन सुभद्रा के लिये वर चुना था।

जब वर-वधू दोनों ही स्वभाव से विद्रोही हों, तो विवाह चाहे आज से साठ बरस पहले सन् १९१९ में हो रहा हो, उसमें कुछ न कुछ विलक्षणता तो होनी ही थी। शादी लड़के के गुरुजनों ने नहीं तय की थी। लड़के ने खुद तय करने के बाद उनकी सहमति मांगी थी। अपनी ही मेहनत से इतनी बड़ी क्लास तक पढ़ा लड़का था, मां और बड़े भाई को सहमति तो देनी पड़ी, परन्तु यह उनके लिये असन्तोष

का बहुत बड़ा कारण था। शादी के समय वधू ने पर्दा नहीं किया था। बारात को जब खाना खिलाया जा रहा था, तो किसी को सन्देह हुआ कि परोसने वाला शायद ब्राह्मण नहीं है। बात सच भी थी, तो फ़ौरन कहार को जनेऊ पहना दिया गया। सुभद्रा जब बहू बनकर खंडवा आयीं, तो उनके जेठ, जो इस शादी के पूरे आयोजन से ही असंतुष्ट थे, अब बर्दाश्त न कर सके कि नयी बहू मुंह खोले हुए ससुर-गृह में प्रवेश करे। वे मुख्य दरवाज़े पर डंडा लेकर खड़े हो गये कि बहू पहले घूंघट निकालेगी तब घर में प्रवेश कर पायेगी। नव-वधू को भी यह सारी स्थिति बहुत अटपटी लग रही होगी। घूंघट की आड़ में उसे भी असंख्य छिद्रान्वेषी दृष्टियों से अपनी सुरक्षा दिखी होगी। सुभद्रा ने अपने नये घर में इस अद्भुत स्वागत के साथ प्रवेश किया।

लेकिन पति के रूप में उन्हें जो सहचर मिला था, वह परम उदार विचारों वाला और सच्चे हृदय से उनके व्यक्तित्व को आदर देने वाला था। सुभद्रा की इच्छा थी कि वे अपनी पढ़ाई चालू रखें और लक्ष्मण सिंह भी कानून करने के बाद एम० ए० की पढ़ाई कर रहे थे, तो उन्हें उस अधूरी छूटी पढ़ाई को पूरा करना था। इसलिये दोनों पति-पत्नी इलाहाबाद गये, परन्तु इन दोनों की पढ़ाई आगे चल नहीं सकी। सन् १९२०-२१ में गांधी जी ने विद्यार्थियों को स्कूल-कालेज छोड़कर देश का काम करने का आह्वान किया था। इन दोनों उत्साही देशभक्तों ने इस आह्वान को सुना और उनकी पढ़ाई अधूरी ही छूट गयी।

लक्ष्मण सिंह की मां ने बड़े कष्ट सहकर अपने पितृहीन बच्चों को पाला था। लक्ष्मण सिंह के मन में पराधीन भारत माता के लिये असीम प्यार था, जिसके लिये किया गया कोई भी बलिदान उन्हें बड़ा नहीं लगता था। लेकिन साथ ही अपनी दुखियारी मां के लिये भी प्यार के साथ-साथ मन में अपार कृतज्ञता भी थी। उसके कष्टों को वे भूले नहीं थे और चाहते थे कि अब अपनी मां को वे खूब सुख से रखें। वकालत पढ़ ही चुके थे, उन्होंने सोचा कि यह स्वतन्त्र पेशा है इसके साथ देश का काम अच्छी तरह चल सकेगा। सुभद्रा के भी मन में भावी जीवन के कुछ सपने अवश्य रहे होंगे, परन्तु उस समय देशभक्ति की जो लहर सारे वातावरण में व्याप्त थी, सुभद्रा उसमें पूरी तरह डूबी हुई थीं। देश के काम के आगे बाकी सब बातें नगण्य हो जाती थीं। यदि उनके मन में कुछ थोड़ी-बहुत दुविधा रही होगी, तो वह गणेश शंकर विद्यार्थी के एक पत्र से समाप्त हो गयी। विद्यार्थी जी लक्ष्मण सिंह को उनके विद्यार्थी काल से जानते थे और उनमें निहित गुणों और उनकी संभावनाओं पर उन्हें बड़ा भरोसा था। विद्यार्थी जी ने सुभद्रा को लिखा "देवि, तुम्हारे रहते लक्ष्मण भारत मां की पुकार को न सुनें और वकालत करें, यह हो नहीं सकता।" सुभद्रा ने इस बात को गांठ बांध लिया। इन दोनों पति-पत्नी ने भारत मां की पुकार को सुना और देश के काम में लग गये। साहित्यानुराग

भी देश सेवा का एक साधन बन गया। इन दोनों के सौभाग्य से देश सेवा और साहित्यानुराग साथ-साथ निभ सकें इसका सुयोग भी जुट गया।

मध्य प्रदेश के कुछ जनसेवक देशप्रेमियों ने मिलकर राष्ट्रीय विचारों वाला एक साप्ताहिक पत्र निकालने की योजना बनाई। राजनीतिक चेतना के प्रचार-प्रसार का सबसे अच्छा माध्यम अखबार ही है। बहुत सोच-समझकर इसके सम्पादन का भार देश के प्रति पूर्णतया समर्पित कवि पंडित माखनलाल चतुर्वेदी को सौंपा गया। इस प्रकार सन् १९२० में जबलपुर से कर्मवीर का प्रकाशन प्रारम्भ हुआ। माखनलाल जी उसके प्रधान सम्पादक थे, लक्ष्मण सिंह साहित्य सम्पादक बने। इस प्रकार विवाह के बाद पहली बार सुभद्रा और लक्ष्मण सिंह की गृहस्थी जबलपुर में जमी। यह काम इस दम्पति के मन का था। पत्रकारिता द्वारा साहित्य और देश सेवा दोनों एक साथ साध्य थे। यह एक ऐसा संयोग था कि जीवन निर्वाह का साधन ही अभिलाषा की पूर्ति बन गया।

निहालपुर के कच्चे-पक्के मकान की छत के ऊपर लड़कियां खेल-खेल में जो स्त्रियों की सभा करती थीं, अब उसका परिदृश्य बदल गया था। दोपहर को सुभद्रा मुहल्ले में स्त्रियों की सभा करती थीं। घर का काम-काज निपटाकर मध्यवित्त घरों की स्त्रियां, कोई घूंघट निकाले, कोई चादर ओढ़े, कोई गोद में बच्चे को संभाले, उस सभा में आती थीं। वहां सुभद्रा उनसे विदेशी वस्तुओं के बहिष्कार की बात कहती थीं, स्त्री-शिक्षा के पक्ष में और पर्दा छोड़ने के लिये कहती थीं, उनमें आत्मविश्वास जगाने का प्रयत्न करती थीं। वे स्त्रियां उनकी बातें तत्काल न मान सकीं, पर वे बातें उन्हें अच्छी लगती थीं। उन बातों में उन्हें उपदेशक का अहंकार नहीं मिलता था, बल्कि वे एक सहेली की सीख जैसी लगती थीं, क्योंकि सुभद्रा स्वयं उन्हीं में से एक थीं, कुलवधू का शील और मर्यादा सुभद्रा में थीं, भले ही उनका चेहरा घूंघट से न ढका हो; शाम को वे अपने पति के साथ घूमने भी निकल जाती हों और उनके मित्रों के साथ बराबरी से बातचीत भी कर सकती हों।

लेकिन सुभद्रा उन स्त्रियों से कुछ अलग भी थीं।

२

उस समय की पत्र-पत्रिकाओं में निरन्तर सुभद्रा की कवितायें छप रही थीं। तब हिन्दी में लिखने वाले यों ही कम थे और उनमें भी स्त्री लेखिकायें तो गिनी-चुनी ही थीं। देश-काल से प्रभावित होकर प्रायः अधिकांश लेखकों की रचनायें देश-भक्तिपरक, समाजोन्मुखी होती थीं। भारतीय इतिहास में सन् १६२० के बाद के कुछ वर्ष जन-जागृति, देश-प्रेम की अभिव्यक्ति और विदेशी शासन के प्रति एक व्यापक असन्तोष और आक्रोश की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्व के हैं। उस समय का कोई भी पढ़ा-लिखा आदमी इस जागृति की लहर से अछूता नहीं था, चाहे वह सक्रिय राजनीतिक कार्यकर्ता हो, चाहे सरकार का वेतन-भोगी कर्मचारी हो, चाहे भक्तों की भीड़ को रामकथा सुनाने वाला रामायणी हो, चाहे अपने घर-परिवार में उलझी गृहिणी हो। स्कूल जाने वाले नन्हे-नन्हे बच्चे कूद-कूदकर बिना मतलब समझे हुए चिल्लाते थे, 'गोल बजार में लाठी-चार्ज, मर गये बेटा पंचम जार्ज।'

या फिर पुलिस वाले को देखकर गाने लगते थे :

> फाँसी पर झूला झूल गया मर्दाना भगत सिंह
> मर के हमें सिखला गया मर जाना भगत सिंह

सारी बातों को सभी लोग पूरी तरह हृदयंगम करते हों, यह कोई जरूरी नहीं था। यह तो एक आंधी थी जिससे कोई अछूता नहीं था। यह वह जागरण का प्रकाश था जिसकी कोई न कोई किरण हर एक के मन में प्रवेश कर गई थी। स्त्री की दुनिया शिक्षा का सम्बल पाकर घर-गृहस्थी से बाहर विस्तार पा रही थी। कस्तूरबा ने आधुनिक युग में सीता का नया आदर्श सामने रखा था। वे पति की सहचरी, सहकर्मिणी होकर अपने शील और मर्यादा का कवच ओढ़े हुए, घर से बाहर निकल पड़ी थीं, जिसने भारतीय स्त्री के मन को बहुत बड़ा सहारा दिया था। अपने शिक्षा पाने के अधिकार की बात या पर्दा छोड़ने और घर से बाहर निकलकर काम करने की बात को वह साहस के साथ कह सकने की हिम्मत कर सकी थी। फिर भी प्रचलित रूढ़ियों की अवमानना या तात्कालिक सामाजिक

मर्यादा को तोड़ने के लिये पहला कदम उठाना बड़ा साहस मांगता है। सुभद्रा ने जब पर्दा छोड़ा तब उन्हें कितनी लांछना, कितना उपहास न सहना पड़ा होगा ? वे विवाह के बाद लक्ष्मण सिंह के साथ उनके एक मित्र के गांव में गयीं। मुंह खोले हुए कोई औरत मर्दों के साथ घूमे, वह और चाहे कुछ भी हो, कुतूहल का पात्र अवश्य थी। वे जहां भी जातीं औरतें दरवाज़े की ओट से उन्हें झांक-झांककर देखतीं। मुंह खोलकर घूमना भली औरतों का लक्षण थोड़े ही था ! लेकिन यह सब सहन करना तो हर पहला कदम उठाने वाले की नियति होती है। फिर धीरे-धीरे, जैसे-जैसे समय बीतता है उसका साहस, दूसरों के मन में भी साहस का संचार करता है। सुभद्रा जहां इन सामाजिक कुप्रथाओं से संघर्ष कर रही थीं, स्त्री के व्यक्तित्व की प्रतिष्ठा के लिये प्रयत्नशील थीं, तो उनकी यह सारी मनोदशा उनके लेखन में भी प्रतिध्वनित होती थी। विजयादशमी को संबोधित करते हुए वे उससे कहती हैं कि आज देश में पाप-पुण्य का एक अनोखा युद्ध छिड़ा है। इस युद्ध में यदि सबल पुरुष भीरुता दिखाता है, तो हे विजयादशमी, तू हम अबलाओं को वरदान दे कि हम उठ पड़ें और अत्याचार के विरुद्ध घमासान युद्ध करें। जब पन्द्रह कोटि असहयोगिनियां उठ खड़ी होंगी तो ब्रह्माण्ड भी सहम उठेगा। भारत-माता की पराधीनता की बेड़ी को अब काटना ही है। एक वीर क्षत्राणी का आततायी के विरुद्ध आक्रोश और अत्याचार के विरोध का दीप्त स्वर, उनकी कविताओं में मिलता है।

जलियांवाला बाग़ हत्याकांड हो चुका था। सरकार की सारी कोशिशों के बाद भी धीरे-धीरे उस जातीय अपमान की बात लोगों को मालूम हो रही थी और उनका क्षुब्ध आत्म गौरव इस अन्याय के प्रतिकार के लिये सन्नद्ध हो रहा था। लिखनेवाले के लिये उसकी लेखनी सबसे बड़ा हथियार है। सुभद्रा ने इस जलियांवाला बाग़ के हत्याकांड पर कुछ बहुत ही मार्मिक कवितायें लिखीं। एक कविता में वसन्त से निवेदन है कि हे ऋतुराज, तुम आओ, परन्तु यह स्थान शोक का है, यहां बच्चे मरे हैं, बूढ़े मरे हैं, नवयुवतियां अपमानित हुई हैं। उनके माथे का सिन्दूर, उन बूढ़ों का सहारा, उन दुध-मुंहे बच्चों का पालनहार सिपाहियों की गोलियों से भूंज डाला गया है, इसलिये हे वसन्त, तुम धीरे से आना और इन अभागों की याद में कुछ मुरझायी हुई कलियां भर यहां गिरा देना।

या उस सद्यः विधवा की करुण-दशा का वर्णन करती हैं, जिसके पैरों से विवाह के महावर की लाली भी अभी नहीं छूटी थी। कृष्ण को राखी भेजते हुए बहन (सुभद्रा) कहती है कि पहले जब शत्रुओं को भी राखी भेजी तो वह राखीबन्द भाई अपनी बहन की रक्षा को दौड़ पड़ा था। मुझे अभी भी वह जलियांवाले बाग़ का गोलन्दाज़ याद आता है। ऐसे समय हे कृष्ण, क्या तुम रक्षा करने न आओगे ?

परन्तु जो पीड़ित है, वह जहां दूसरे से रक्षा की प्रार्थना करता है, वहां उसे स्वयं भी तो अपनी रक्षा के लिये सन्नद्ध रहना चाहिये। पराधीन देश को इसके लिये तैयार करना कांग्रेस का प्रमुख उद्देश्य था। कांग्रेस का लक्ष्य था कि स्वदेशी के सन्देश को, अहिंसा और सविनय अवज्ञा के महत्व को जन-साधारण तक पहुंचाना। निहत्थी-निःशस्त्र जनता के लिये असहयोग ही सबसे कारगर अस्त्र हो सकता था। लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक का स्वर्गवास हो गया था। उनकी स्मृति में तिलक स्वराज्य फ़ंड के लिये एक लाख रुपये इकट्ठा करने का लक्ष्य रखा गया। लेकिन रुपया इकट्ठा करना मात्र लक्ष्य नहीं था, जोकि बड़े-बड़े सेठ साहूकार या निहित स्वार्थ वाले पूंजीपतियों से दो दिन में वसूल कर लिया जाता। इसके पीछे असली उद्देश्य यह था कि ज्यादा से ज्यादा घरों में जाकर वहां से एक-एक, दो-दो पैसा लेकर, यह रकम इकट्ठी की जाये, और कांग्रेस का प्रचार किया जाये। सुभद्रा अपनी चार-पांच सहकर्मिणियों के साथ घर-घर घूमकर चन्दा मांगती थीं। कहीं मान मिलता था, कहीं घनघोर उपेक्षा, कहीं सरासर अपमान और कहीं अप्रत्याशित सम्मान। लेकिन ये लोग तो अपना माल, अपने विचारों की पिटारी लेकर बाज़ार में निकल पड़ी थीं। सौदा बेचनेवाले के लिये तो हर नया आदमी संभावित ग्राहक है, जिसके सामने उसे अपना माल फैला देना है। कहीं लोग देखेंगे, उनकी आंखों में आकर्षण की चमक भी होगी, परन्तु लेने में हिचकिचायेंगे। कहीं तुरत-फुरत उम्मीद से अधिक की बिक्री हो जायेगी। कहीं माल दिखाने के पहले ही दुरदुरा कर भगा दिये जायेंगे। लेकिन यह तो बाज़ार है, यही इसका कायदा है, ऐसे ही माल बाज़ार में फैलता है। कांग्रेस के कार्यकर्ता अपना पराधीनता से मुक्ति का संदेश, स्वदेशी का प्रचार, असहयोग और अहिंसा को लेकर बाज़ार में निकल पड़े थे। सुभद्रा ने घर-घर जाकर एक-एक दो-दो पैसा चन्दा इकट्ठा किया। उनका स्वयं का घूमना अपना अलग प्रभाव रखता था। विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में उनकी कवितायें छप रही थीं, और परोक्ष रूप से अपना असर डाल रही थीं।

सन् १९२० में नागपुर में होने वाली कांग्रेस के स्वागत में वे कहती हैं :

है इतना उत्साह कि डर है, हम उन्मत्त न बन जायें
है इतना विश्वास कि भय है, हम गर्विष्ठ न कहलावें
इतना बल है प्रबल, कहीं हम अत्याचार न कर डालें
यही सोच-संकोच यही, मर्यादा पार न कर डालें।

अहिंसा का आदर्श और अनुशासन का बन्धन मन के उत्साह को मर्यादित रखता था। अपनी बात को अधिक से अधिक लोगों तक पहुचा सकें, उसे उनके

भी मन की बात बता सकें इसके लिये मातृ-भाषा का प्रयोग ही सबसे सशक्त साधन था। मातृ-भाषा की वन्दना करते हुए वे कहती हैं :

तू होगी आधार, देश की
पार्लमेण्ट बन जाने में
तू होगी सुख सार देश के
उजड़े क्षेत्र बसाने में
तू होगी व्यवहार देश के
बिछड़े हृदय मिलाने में
तू होगी अधिकार, देश भर
को स्वातंत्र्य दिलाने में

या फिर वे कहती हैं :

ज़रा ये लेखनियां उठ पड़ें
मातृभू को गौरव से मढ़ें
करोड़ों क्रान्तिकारिणी मूर्ति
पलों में निर्भयता से गढ़ें—

सुभद्रा अपनी निजी जीवन प्रणाली से और अपनी लेखनी से करोड़ों क्रांति-कारिणी मूर्ति गढ़ने का प्रयत्न कर रही थीं और इसी प्रक्रिया में स्वयं उन्होंने एक बहुत बड़ा क्रान्तिकारी कदम उठा लिया।

जबलपुर म्युनिसिपैलिटी में सन् १९२३ में कांग्रेस का बहुमत हो गया था। किसी भी सार्वजनिक स्थान पर राष्ट्रीय तिरंगा झंडा लगाये जाने पर सरकारी प्रतिबन्ध था। परन्तु म्युनिसिपैलिटी का कांग्रेसी बहुमत उसके भवन पर तिरंगा झंडा फहराना चाहता था। इसके लिये प्रसंग भी उपस्थित हो गया। देश सविनय अवज्ञा आन्दोलन के लिये कितना तैयार है, इसका पता लगाने के लिये कांग्रेस कार्यकारिणी ने एक समिति बनाई, जिसके अध्यक्ष हकीम अजमल खां थे। हकीम साहब अपने निश्छल तेजस्वी स्वभाव, निडर सत्यवादिता और अटल देश-भक्ति के कारण हिन्दू-मुस्लिम एकता के प्रतीक-से बन गये थे। म्युनिसिपल कमेटी ने तय किया कि हकीम अजमल खां के हाथों सभा भवन पर राष्ट्रीय झंडा फहराया जाये। राष्ट्रीय झंडा फहराया गया, किन्तु सरकार अपनी अवज्ञा कैसे बर्दाश्त करती। फौरन ही झंडा वहां से उतारा और किसी सरकारी कर्मचारी ने अपने उत्साहा-तिरेक में उसे पैरों से कुचला।

राष्ट्रीय झंडे का अपमान देश का अपमान था और इसका प्रतिकार तत्काल होना चाहिए था। पंडित सुन्दरलाल, जो कि इस आन्दोलन के नेता थे, उन्होंने

लक्ष्मण सिंह से कहा कि तुम फौरन सुभद्रा को बुला लाओ। सुभद्रा घटना-स्थल पर तुरन्त पहुच गयीं। पंडित सुन्दरलाल ने दस आदमियों की एक सत्याग्रह समिति बनाई जो तिरंगा लेकर कैण्टोनमेण्ट की तरफ बढ़ी। सुभद्रा भी इन दस व्यक्तियों में एक थीं। केण्टोनमेण्ट में घुसने के पहले ही पुलिस ने इन्हें गिरफ़्तार कर लिया। सारे सत्याग्रही रात-भर पुलिस की हिरासत में रहने के बाद छोड़ दिये गये, केवल पंडित सुन्दरलाल पर मुक़दमा चला और उन्हें छः महीने की सज़ा हुई। अठारह साल की सुभद्रा सत्याग्रही होकर पुलिस की हिरासत में रह आयीं। सत्य के लिये, अपने आदर्श के लिये, कितना भी बड़ा त्याग या खतरा उठा सकने की उनमें हिम्मत थी। वे इसीलिये लिख भी सकीं कि :

पन्द्रह कोटि असहयोगिनियां
दहला दें ब्रह्मांड सखी
भारत-लक्ष्मी लौटने को
रच दें लंका कांड सखी

यह केवल कवि की अतिशयोक्ति नहीं थी। इसके पीछे अदम्य साहस था, कुछ उसी तरह का जिसके रहते कुछ सदी पहले राजस्थान की वीर बालायें दृढ़ता के साथ जौहर की आग में शान्तमना कूद सकती थीं। इसलिये यह दूसरों के मन को भी छूता था। आचरण से बढ़कर प्रमाण और दूसरा नहीं होता।

जब सुभद्रा के अपने बच्चे पढ़ने लायक हो गये, तो जब कभी वे बाहर से घर लौटतीं, तो बच्चों के लिये उपहार में किताबें लाया करतीं। आज भी बच्चों का साहित्य इतना कम है तो आज से पचीसों बरस पहले और कितना कम न रहा होगा? वे न जाने कहां-कहां से बच्चों के लिये साहस, शौर्य और बलिदान की कहानियां खोज लेतीं। ये सब अपनी स्वाधीनता की रक्षा के लिये प्राणों का बलिदान देने वालों की कहानियां होतीं, अपनी आन के लिये मर मिटने वालों की कहानियां होतीं। अपने बच्चों में वे इन्हीं गुणों का विकास देखना चाहती थीं। राजस्थान की कृष्णा कुमारी की कहानी जिसने अपनी मातृ-भूमि की रक्षा के लिये अपने प्राण दे दिये थे या चंचल कुमारी की कहानी जिसने अपने स्वाभिमान की रक्षा के लिये आततायी मुग़ल सम्राट् से लोहा लिया था। गढ़मंडला की रानी दुर्गावती की कहानी, जो अपनी स्वाधीनता की रक्षा के लिये महाबलशाली अकबर से लड़ाई करने में न हिचकी, या वीरता के गौरव राणा प्रताप की कहानी, जो अपनी आन और स्वाधीनता की रक्षा के लिये वन-वन घूमे, राजकुमारों को घास के बीजों की रोटी खिलाई और आजीवन अकबर की सेना से जूझते रहे, परन्तु उसके सामने गर्दन न झुकाई। और झांसी की रानी लक्ष्मीबाई की कहानी जो समुद्र की लहर की तरह आगे बढ़ती, अंग्रेज सेना से टक्कर लेने में न हिचकी। देश-प्रेम,

साहस, शौर्य, बलिदान, तेजस्विता, वे सभी गुण जो सुभद्रा की मनोकामना के उच्चतम आदर्श हो सकते थे, लक्ष्मीबाई में उन्हें मूर्तिमान दिखते थे। उनका साहस और बलिदान, वर्तमान काल के लिये उन्हें उद्बोधन का महामंत्र जैसा लगता था। जिस अंग्रेज़ प्रभुसत्ता से अपनी झांसी को बचाने के लिये उसने अपने प्राणों का उत्सर्ग किया था, उन्हीं अंग्रेजों से अपने देश को मुक्त कराने की लड़ाई यह भी तो है।

३

जिस अंग्रेजी साम्राज्य में सूर्य कभी नहीं डूबता था, उसी महान् शक्तिशाली शत्रु से अब लोहा लेना था। यह लड़ाई सब की होने वाली थी, बहुत व्यापक, इसलिये इस लड़ाई में लड़ने के लिये सबको तैयार करना होगा। पंवाड़े जैसा या आल्हा जैसा, लक्ष्मीबाई की कहानी को घर-घर तक पहुंचाना होगा। और वे गा उठीं :

> बूढ़े भारत में भी आई
> फिर से नई जवानी थी
> दूर फिरंगी को करने की
> सबने मन में ठानी थी।
> बुन्देले हरबोलों के मुंह
> हमने सुनी कहानी थी
> खूब लड़ी मर्दानी वह तो
> झांसी वाली रानी थी।

बुन्देले हरबोलों ने तो अपने सीमित क्षेत्र में, झांसी की रानी ने अंग्रेजों से जो घमासान युद्ध किया था, उसका कड़खा गा-गा कर गांव-गांव में अलख जगाया था। सुभद्रा ने लक्ष्मीबाई की वीर गाथा को, उसके यशस्वी उत्सर्ग को अपनी संगीतमयी तरल ओजस्विनी कविता में आधुनिक युग के आल्हा के रूप में ढाल दिया। उन्होंने अपनी 'झांसी की रानी' नामक कविता में लक्ष्मीबाई की स्वाधीनता की लड़ाई को, उसके सरल, मानवीय जीवनवृत्त को कल-कल, छल-छल बहते हुए-से छन्द में बांधा है। लक्ष्मीबाई के जीवन की घटनायें और उसके साथ ही तत्कालीन देश-दशा या दुर्दशा का वर्णन, और जातीय स्वाभिमान की प्रतिष्ठापना की अदम्य लालसा, सभी बातें एक दूसरे में घुली-मिली-सी, छन्द के प्रवाह में क्षिप्र गति से बहती चली आती हैं। न कथा के प्रवाह में कहीं कोई रुकावट आती है, न छन्द की गति में किसी तरह का दोष। इस कविता की सहज सरल भाषा और कथाक्रम की अनवरत गति ने इसे एक अद्‌भुत् छन्दमयता दे दी है। इस कविता के

विषय में बिना किसी अत्युक्ति के यह कहा जा सकता है, कि जो भी हिन्दी पढ़ना जानता है उसने इसे अवश्य पढ़ा होगा और इसकी कुछ पंक्तियां उसकी स्मृति में चिपकी रह गयी होंगी।

आधुनिक हिन्दी कविता में शायद ऐसा यह एक अकेला वीर गाथा काव्य है, या पंवाड़ा है, जो लोकगीत के समान लोक-मानस का अंग बन गया है। इस प्रसग में एक छोटी-सी घटना याद आ रही है। जबलपुर के पास नर्मदा के किनारे त्रिपुरी कांग्रेस का अधिवेशन हो रहा था। बड़ा भारी आयोजन था, उसमें लगी नुमाइश में देश-भर से, तरह-तरह की दुकानें आयी थीं। लेकिन एक उससे भी बड़ा बाजार नुमाइश के घेरे के बाहर लगा हुआ था। पेड़ों के नीचे, सड़क के किनारे छोटे-छोटे दुकानदार अपना बिसात-बाना फैलाये, सौदा ज़मीन पर रखे, उसके सामने बैठे दुकान सजाये रखते थे। वहीं 'झांसी की रानी' की कविता बिना किसी साज-सज्जा के बिना लेखक-प्रकाशक के नाम के रद्दी-से कागज़ पर छपी हुई एक-एक आने में बिक रही थी। और जहां लोग टिकुली, चुटीला, कंघा, चूनेदानी और सरौता-चाकू आदि जरूरत या शौक की चीजें खरीद रहे थे, वहीं एक-एक आने में ये कितबिया भी खरीद ले जा रहे थे। उसका लेखक कौन है, किसने छापी, किसने उसका लाभ उठाया, ये कौन जाने? पर किसी भी लिखने वाले के लिये, यह कितने बड़े सन्तोष की बात है कि उसके लिखे हुए को इतने अनाम-अनजाने लोग अपने हृदय से लगाते हैं। और उसकी यह लोकप्रियता उसे बिना सस्ते लोकरंजन का सहारा लिये ही मिली है।

इस कविता ने लोक मानस की दबी हुई आकांक्षाओं को, उनके मन में सोये से साहस और त्याग के गुणों को, फिर से उकसा दिया था। जातीय गौरवशाली इतिहास की परम्परा से जनता के मन को जोड़ा था। इसी तरह की ओजस्विनी, स्वयंस्फूर्त (inspired) कविता में जातीय समन्वय की क्षमता के बीज छिपे रहते हैं, जो अनजाने ही इतिहास को नई दिशा देने की, उसे नया मोड़ देने की भूमिका में अपना भी सहयोग दे जाते हैं। उस समय जबकि राष्ट्रीय आन्दोलन अपने उठान पर था, झांसी की रानी की कविता को सुनकर न जाने कितने मनों में स्वाधीन होने की आकांक्षा जाग उठी होगी। न जाने कितनी छातियों में त्याग, उत्सर्ग, बलिदान और शौर्य के उदात्त भाव जागे होंगे।

लक्ष्मण सिंह कर्मवीर के साहित्य सम्पादक थे और बाकी समय में कांग्रेस का काम करते थे, सुभद्रा भी उनके साथ-साथ काम करती थीं। किन्तु लक्ष्मण सिंह को कर्मवीर की सम्पादकी के कारण अधिकतर जबलपुर में ही रहना पड़ता था। सुभद्रा के लिये यह बन्धन नहीं था, वे कांग्रेस के काम से जबलपुर से बाहर भी जाती-आती रहती थीं। जब झंडा सत्याग्रह का केन्द्र जबलपुर से हटकर नागपुर पहुंच गया, तो सुभद्रा भी नागपुर के असहयोग आश्रम में रहने लगीं। नागपुर में

सेक्रेटेरियेट के बड़े-से अहाते में, दफ़्तर छूटने के बाद एक-दो मेज़ बाहर रख दी जातीं, और वही मेजें मंच बन जाती थीं। लोग उन पर खड़े होकर भाषण देते। सुभद्रा भी भाषण देतीं, किन्तु लोग आतुर रहते थे उनके मुंह से 'झांसी की रानी' सुनने को। जब वे जोशीले स्वर में कहती थीं :

> सिंहासन हिल उठे राजवंशों ने भृकुटी तानी थी
> बूढ़े भारत में भी आयी फिर से नयी जवानी थी
> गुमी हुई आज़ादी की कीमत सबने पहचानी थी
> दूर फिरंगी को करने की सबने मन में ठानी थी

तो पता नहीं, फिरंगी को अपने देश से दूर करने का प्रण न जाने कितने मनों में ठन उठता होगा ! 'झांसी की रानी' कविता वह मशाल थी, जिसके प्रकाश की किरणों से गुलामी का अंधेरा कट रहा था। सुभद्रा के हृदय का देश-प्रेम इस कविता के माध्यम से न जाने कितने दिलों में भी देश-प्रेम की लौ जला देता था। सुभद्रा के विषय में बोलते हुए एक बार भदन्त आनन्द कौसल्यायन ने बताया कि अपने बचपन में जब वे पंजाब में विद्यार्थी थे, तब पहली बार उन्होंने 'झांसी की रानी' पढ़ी थी। उस कविता ने उस किशोर मन को इतना प्रभावित किया था कि वे चाहते थे कि हाथों में कड़े पहनकर, एक लकड़ी से उन्हें बजाते हुए वे 'खूब लड़ी मर्दानी वह तो झांसी वाली रानी थी', गाते हुए गांव-गांव में घूमें, वैसे ही जैसे वहां के लोकगीत गायक अपने गीतों को गाते हुए घूमते हैं।

लक्ष्मीबाई का जीवन-चरित्र, उसके बचपन से लेकर मृत्यु पर्यन्त, इस कविता का वर्ण्य विषय है। जिस प्रकार प्रज्वलित दीप-शिखा-सा लक्ष्मीबाई का जीवन अल्पायु था उसी प्रकार की ओजस्विनी क्षिप्र गतिशील यह कविता है। बरछी, ढाल, कृपाण, कटारी से खेलने वाली बालिका, अपने खेलों से ही तत्कालीन समाज की मनोदशा दिखा देती है। जब लड़की शिकार खेलती है, सैन्य प्रशिक्षण में ही उसकी शिक्षा और शौक का समन्वय है, तो उसका भविष्य तो स्वयं प्रज्वलित मशाल जैसा स्पष्ट है। वीरता की वैभव के साथ सगाई हुई और लक्ष्मीबाई रानी बनकर वीर बुन्देलों की विरुदावलि-सी झांसी में आ गयी। शादी के कुछ वर्ष बाद ही राजा निस्सन्तान मर गये।

यह वह समय था जब कि लार्ड डलहौज़ी, छल-बल से, कूटनीति से अंग्रेज़ी साम्राज्य को पूरे हिन्दुस्तान में फैला देने के कौशल में लगा था। उसे यह मौका मिला औरउत्तराधिकारी विहीन झांसी के राज्य का उत्तराधिकारी बनकर ब्रिटिश राज्य झांसी पहुंच गया। लक्ष्मीबाई इतनी आसानी से पराधीनता स्वीकार करने को तैयार नहीं थी। दिल्ली में, अवध में, नागपुर में, दक्षिण की रियासतों में, सभी जगह, विस्तार पाती अंग्रेजी साम्राज्य नीति के विरुद्ध लोगों का असन्तोष उचित

नेतृत्व की राह देख रहा था। उसका विस्फोट १८५७ के सिपाही विद्रोह में हुआ। लक्ष्मीबाई उस सिपाही विद्रोह की सबसे तेजस्विनी नेता थी। उसके शौर्य और बलिदान ने अपने साथियों से ही नहीं, अपने दुश्मन अंग्रेजों से भी प्रशंसा पाई। अन्याय के विरुद्ध सिर उठाकर खड़े होने की हिम्मत, उससे लोहा लेने की हिम्मत, चाहे अन्यायी कितना ही प्रबल क्यों न हो, जितना साहस मांगती है, उतना ही दूसरों में साहस का संचार करने की क्षमता भी रखती है। कुल तेईस वर्ष की अल्पायु में लक्ष्मीबाई का बलिदान एक शाश्वत ज्योति-स्तम्भ-सा अंधेरे मनों को राह दिखाता रहेगा।

डेढ़-दो सौ बरस के विदेशी शासन के बाद देश में वैसा ही अंधेरा फिर छा गया था। उस समय उन धुंधलाई आंखों को इस ज्योति-स्तम्भ की याद दिलाना बहुत जरूरी था। यह समय ऐसा था जब स्वयं सुभद्रा स्वदेशमय हो रही थीं, देश-भक्ति और जन-जागृति ही उनका जीवन था, इसी कारण शायद लक्ष्मीबाई के प्रेरणादायक उत्सर्ग की गाथा वे इतनी ओजस्विनी भाषा में लिख सकीं।

सक्रिय रूप से देश का काम करने वाला देश-भक्त यदि लेखक भी हो, तो उसके लेखन में उच्छ्वास की जगह शायद ज्यादा गंभीरता होगी, क्योंकि उसके पास अपने अनुभव की गुरुता है और उसके पैर ठोस धरती पर टिके हैं। यह लक्ष्मीबाई के साहस की, उसकी वीरता की, उसके युद्ध में जूझने और वीरगति पाने की कहानी है, परन्तु कहीं भी उसके इन गुणों का अलग से वर्णन नहीं है, इनके लिये बड़े-बड़े विशेषण का प्रयोग नहीं है। जो कुछ घटित हुआ था, उसे यथाक्रम सीधे-सीधे और कम-से-कम शब्दों में कहा गया है। यह अलंकारहीन विधा ही शायद इस कविता का सबसे बड़ा गुण है, सबसे हृदयग्राही गुण जो सीधे दिल से बात करता है, उस पर चोट करता है। वे लक्ष्मीबाई के युद्ध का वर्णन कितने सीधे सरल शब्दों में करती हैं :

इनकी गाथा छोड़ चलें हम झांसी के मैदानों में
जहां खड़ी है लक्ष्मीबाई मर्द बनी मर्दानों में
लेफ्टिनेन्ट वाकर आ पहुंचा आगे बढ़ा जवानों में
रानी ने तलवार खींच ली, हुआ द्वन्द्व असमानों में

युद्ध की चुनौती देने के पहले भी लक्ष्मीबाई इस बात को जानती थी कि यह युद्ध असमान प्रतिद्वन्द्वियों में होने वाला है। परन्तु इस परिज्ञान के बाद भी जब अन्याय अपनी सीमा लांघ जाता है, और जन-आक्रोश को जगा देता है तो उसका प्रतिरोध आवश्यक हो जाता है। सन् १८५७ का सिपाही विद्रोह भी ऐसे ही जन आक्रोश का स्वरूप था :

महलों ने दी आग झोंपड़ी ने ज्वाला सुलगाई थी
यह स्वतन्त्रता की चिनगारी अन्तरतम से आई थी

इस स्वतन्त्रता के महायुद्ध में दिल्ली और लखनऊ के नवाब थे, नाना साहब और कुंवर सिंह जैसे राजा थे और तात्या टोपे जैसे जनता में से उठे हुए जन-नायक भी थे। लक्ष्मीबाई ने युद्ध करते-करते प्राण त्यागे। उसके लिये कोई भव्य स्मारक नहीं बना, कोई मकबरा नहीं खड़ा हुआ, परन्तु कवि के शब्दों में :

तेरा स्मारक तू ही होगी
तू खुद अमिट निशानी थी

या फिर ऐसे लोगों का स्मारक होता है, उसके देशवासियों के हृदय की कृतज्ञता जो उस बलिदानी के जीवन मूल्यों को जातीय धरोहर के रूप में स्वीकार करती है।

झांसी की रानी जैसी ही प्रसिद्ध सुभद्रा की दूसरी कविता है 'वीरों का कैसा हो वसन्त'। इस कविता के लिखे जाने की एक अन्तर्कथा है। सुभद्रा के घर पर अक्सर शाम के समय जबलपुर के साहित्यिक इकट्ठे हो जाया करते थे। कभी बातों-बातों में यह सोचा कि वसन्त पर कविता लिखनी चाहिये। अन्य दो पुरुष कवियों ने वसन्त पर जिस प्रकार पारम्परिक कवितायें लिखी जाती थीं, उसी तरह की लिखीं—वसन्त और यौवन तथा कोयल और राग-रंग पर। सुभद्रा ने कविता लिखी 'वीरों का कैसा हो वसन्त'। सरसों के पीले फूलों ने वसुधारूपी वधू के अंग-अंग को पुलकित कर दिया है, किन्तु उसके कन्त वीर वेश में हैं—वीरों का वसन्त कैसा होता है ? शिवाजी के दरबार के जोशीले कवि भूषण नहीं हैं और न पृथ्वीराज के साथी और उनके युद्ध का वर्णन करने वाले, उनके उत्साह को बढ़ाने वाले कवि चन्द ही हैं और समय ऐसा है कि कलम बंधी हुई है, अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता नहीं है, कवि की जिज्ञासा है कि ऐसे समय में हमें कौन बताये कि वीरों का वसन्त कैसा हो। और अपनी कविता में ही वे जब लंका में आग क्यों लगी इसका कारण पूछती हैं या कुरुक्षेत्र से उसके अनुभव पूछती हैं, या हल्दीघाटी के शिलाखंडों से और सिंहगढ़ के किले से उनकी ज्वलंत स्मृतियों को जगाने को कहती हैं, तो इस जिज्ञासा का समाधान भी अपने-आप होता चलता है। लंका की लड़ाई असत् के विरुद्ध सत् की लड़ाई थी, प्रबल शत्रु के खिलाफ़ निहत्थी जनता का युद्ध था। कुरुक्षेत्र की लड़ाई अपने न्यायोचित अधिकार की रक्षा की लड़ाई थी, हल्दी घाटी और सिंहगढ़ की लड़ाई राणा प्रताप का और शिवाजी का अपनी मातृभूमि की स्वाधीनता के लिये किया हुआ युद्ध था। इन्हीं मूल्यों की रक्षा का संघर्ष और स्वाधीनता का युद्ध वीरों के वसन्त के रूप में केसरिया बाना पहनकर युद्ध-क्षेत्र में खून की होली खेलकर मनाया जाता है। पराधीन भारत को ऐसा ही वसन्त चाहिये। और चन्द बरदाई और भूषण की परम्परा पर चलने वाली आधुनिक युग की इस कवयित्री ने भी वैसी ही प्राणमयी, ओजस्विनी रचना की।

४

सुभद्रा प्रकृति से विरागी नहीं, रागी थीं। उनके हृदय का अनुराग अपनों की परिधि को पार करके, अपने देश और वहां के रहने वालों तक विस्तार पा गया था। उनका भावना-संकुल मन नारी मन की बहुरंगी छवियों में तो झलका ही, देश-भक्ति की इन ओजस्विनी कविताओं में भी उसने अभिव्यक्ति पाई।

स्वस्थ और उदात्त विचारों के पनपने के लिए स्वस्थ मन बहुत आवश्यक है। कुंठाओं से ग्रसित अपने ही भीतर परत-दर-परत जकड़े हुए मन में स्वस्थ विचारों का अंकुर यदि जन्मता भी है, तो जल्दी ही मुर्झा जाता है। सुभद्रा का अनुभव-सम्पन्न जीवन हर तरह से भरापूरा और परितृप्त था। शायद यही कारण हो कि उनकी कविता में स्त्री का सहज रूप अनायास ही अपनी समग्रता और सरलता में उभर आया है। उनकी कविताओं में एक नारी का प्रणय निवेदन है, प्रिय पर न्योछावर हो जाने की आतुर मनोकामना है, तो साथ ही उस प्रिय पर अपने ही स्वामित्व का भाव भी है। उसे किसी और पर अनुरक्त देखकर ईर्षा से जल उठने की अधिकार भावना भी है। उसके रूठ जाने पर उसे मना लेने की ममता है, तो कभी-कभी अपनी भूल मन-ही-मन स्वीकार कर लेने पर भी मुंह न खोलने का अभिमान है। मां का वात्सल्य-भरा गर्व है, तो पत्नी का लचीला समर्पण भी है। उनकी कविताओं में नारी-मन अपनी पूरी गरिमा और अपनी शक्ति-केन्द्रित सीमा, दोनों ही स्थितियों में अभिव्यक्त हुआ है।

जो साहित्यिक-राजनीतिक यात्रा पन्द्रह-सोलह वर्ष की कच्ची उम्र में प्रारम्भ हुई हो, उसमें उतार-चढ़ाव के, अनजानी-अनचाही भूलों के कुछ प्रसंग तो आते ही हैं। जब मन में देश प्रेम की लौ जगी हो, और आंखों के आगे त्याग और बलिदान के ऊंचे आदर्श हों और सोलह-सत्रह साल की आवेगमय आयु हो तो ऐसी स्थिति में आचरण में संतुलन की अपेक्षा करना ही व्यर्थ है। लक्ष्मण सिंह और सुभद्रा सन् 21 में अहमदाबाद कांग्रेस में शरीक होने के लिए गये। वहां से लौटते समय कुछ दिनों को साबरमती आश्रम में भी गए। सुभद्रा बा और बापू के दर्शन करने गयीं। गरीबनी भारत माता की सेविका को साज-शृंगार से क्या लेना-देना! वे सफेद, बिना किनारे की साड़ी पहने बा-बापू के पास पहुंचीं। ऐसी सलोनी, सुन्दर-

सी नौजवान लड़की और ऐसे वेश में ! उन दोनों के मन को शायद कुछ धक्का लगा हो। आखिर बापू ने पूछ ही लिया, "बेन, तुम कैसे आयी हो, क्या अकेली हो?" सुभद्रा ने प्रफुल्लित मन से बताया कि उनके पति भी उनके साथ हैं। बा ने और बापू ने मन-ही-मन स्वस्ति का अनुभव किया, किन्तु सुभद्रा को डांट पड़ी कि फिर तुम ऐसा वेश क्यों बनाये हो, चूड़ी पहनो, सिंदूर लगाओ और किनारेदार साड़ी पहनकर तब मिलने आना।

सुभद्रा की वेश-भूषा का यह श्रीहीन रूप स्वयं उन दोनों पति-पत्नी को शायद दिखा ही न था। कालिदास ने वल्कलधारिणी शकुन्तला के लिए कहा भी है 'किमि हि मधुराणांमण्डनं नाकृतीनाम्'। लेकिन यह डांट जो पड़ी सुभद्रा के मन की थी। वे तो योंही पहनने-ओढ़ने की बहुत शौकीन थीं। पहनने-ओढ़ने का, खाने-खिलाने का, घूमने-फिरने का, किस चीज का शौक उन्हें नहीं था। कितना कुछ पूरा हो पाया यह दूसरी बात है, जीवन की परिस्थितियां ही बहुत अनुकूल नहीं रहीं, लेकिन उनका मन तो पूर्ण-रूपेण प्राणमय था, उल्लास के आवेग से छलकता हुआ। तभी तो वे लिख सकीं :

मैं जिधर निकल जाती हूं
मधुमास उतर आता है
नीरस जन के जीवन में
रस घोल-घोल जाता है।

और जब उनके पति नमक सत्याग्रह में गिरफ़्तार होकर, साल-भर जेल की सजा काटकर वापिस घर लौटे तो उनका निश्छल मन गा उठा :

उषे सजनि अपनी लाली से आज सजा दो मेरा तन
कला सिखा खिलने की कलियां, विकसित कर दो मेरा मन
हे प्रसून दल अपना वैभव बिखरा दो मेरे ऊपर
मुझ-सी मोहक और न कोई कहीं दिखाई दे भूपर।

अपनी छवि से प्रिय का मन मोह ले यही तो स्त्री की स्वाभाविक कामना होती है। बड़ी पुरातन और शायद सनातन भी कहानी है आदिदेव महादेव के विवाह की। हिमालय की गृहिणी मैना अपनी कन्या का विवाह का शृंगार कर रही हैं। उनके घर में साक्षात् महादेव वर बनकर आ रहे है और कन्या भी भगवती पार्वती हैं, परन्तु मां अपनी सजी-संवरी बेटी को उसके भावी पति के सम्मुख ले जाते हुए आशीर्वाद देती है कि नारी के शृंगार का उचित फल प्रिय-दर्शन ही है—प्रियेषु सौभाग्यफला हि चारुता। नारीमन की इस आदि-कामना को एक सरल नारीमन ने अपनी लेखनी से आबद्ध कर दिया तो क्या आश्चर्य !

मन की भावना की एक सीधी-सच्ची अभिव्यक्ति, ऐसी भाषा में, जो हमारे रोज़ के काम-काज की भाषा है, काव्य का गुण ही मानी जानी चाहिए। सुभद्रा की कविता में ऐसे कठिन, गरिष्ठ शब्द शायद ही हों कि कोष लेकर उनका अर्थ खोजना पड़े। सीधे-सादे बोल-चाल के वाक्यों से ही जैसे उनकी कविता बन जाती है।

तुम मुझे पूछते हो 'जाऊं'
मैं क्या जवाब दूं तुम्हीं कहो!
'जा…' कहते रुकती है जबान
किस मुंह से तुमसे कहूं 'रहो।'

इन पंक्तियों में क्या कोई कमी है या कोई विशेषता है—यह तो साहित्यालोचक ही बता सकता है। लेकिन एक साधारण पाठक को, एक भावुक को, एक कविता प्रेमी को ये कवितायें भाती हैं। इनमें कहीं कोई दूर की कौड़ी लाने का प्रयास नहीं है। अपनी बात को घुमा-फिराकर प्रछन्न बनाने का कौशल भी नहीं है। परन्तु मन के भावों को उनके आदिम प्राणमय रूप में अभिव्यक्त कर देने की क्षमता अवश्य है। मन के भावों को उनके रस-रूप-गंध, उनकी गूंज-अनुगूंज के साथ उनकी समग्रता में प्रकट कर देना, भाषा के लिये शब्दों के लिये, सबसे बड़ी चुनौती है। किसी किशोरी की मनःस्थिति को सुभद्रा की यह एक पंक्ति—"मैं सबके बीच अकेली थी" कितने प्रकार की अर्थ-संभावनाओं को प्रकट करती है और है यह केवल एक आम बोल-चाल की भाषा का छोटा-सा वाक्य। भाषा की इस सादगी में अर्थ-वहन की सम्भावना कुछ वैसे ही निहित रहती है, जैसे वेश-भूषा की सादगी में चरित्र संयम की। भाषा की सादगी अर्थ-गरिमा की, लक्षण की, सबसे समर्थ वाहक होती है, सुभद्रा के अधिकांश लेखन में यह गुण है। यह कहना मुश्किल है कि यह उनके लिये श्रम-साध्य था या नैसर्गिक था, परन्तु उनके लेखन में यह इतने सहज रूप में आया है कि पढ़ने वाले को तो यही लगता है कि यह गुण उन्हें अनायास ही मिला है। हो सकता है कि यह उस मन का ही गुण हो जिसमें जब भी, जो भी भाव आता है वह बाढ़ के पानी जैसा सबको आच्छादित करता हुआ अपने में समो लेता है, और सब कुछ जलमय हो जाता है। लक्ष्मण सिंह चौहान ने एक जगह सुभद्रा के विषय में लिखा है, "श्रीमती सुभद्रा कुमारी चौहान पराकोटिवादी हैं। उनका प्रेम, उनका आनन्द, उनका उल्लास, उनका नैराश्य, उनका वीरत्व, उनकी देश-भक्ति सब अपने चरम उत्कर्ष पर पहुंचे हुए मिलते हैं। जब वे अनुभव करती हैं, तब वे हृदय के किसी एक कोने में नहीं अनुभव करतीं, किन्तु उनका सम्पूर्ण हृदय उस अनुभूति से ओत-प्रोत हो उठता है, और उस समय उनके हृदय में यदि अन्य किसी भावना का उदय भी होता है, तो वह भी उसी रंग में रंगकर प्रधान अनुभूति की सहायक बन जाती है। उनकी काव्य-प्रतिभा की चेतना-तरंगिणी एक ओर स्वदेश के कूल और दूसरी ओर मानवता के तट को चूमती हुई चलती है।"

सुभद्रा कहती हैं कि "विश्वास, प्रेम, साहस हैं जीवन के साथी मेरे" और इसी कारण वे कह सकीं कि :

आशा आलोकित करती
मेरे जीवन के प्रतिक्षण
हैं स्वर्ण सूत्र से वलयित
मेरी असफलता के घन।

यदि इतनी उद्दाम आशा उनके हृदय में न होती, यदि अपनी असफलताओं में भी उन्हें आशा की स्वर्ण-किरण कहीं से झांकती न दिखाई देती तो उनका जीवन दुर्वह हो जाता। जिस यात्रा की शुरुआत ही ऐसे हुई हो कि पाथेय के रूप में उसके पास एक वक्त की रसद सामग्री-भर हो और अनजानी राह के साथ-साथ भविष्य का सभी कुछ अनजाना हो, कल क्या खायेंगे, कहां रात बितायेंगे, क्या ओढ़ना-बिछौना होगा, क्या पहनेंगे, यह सब कुछ भी न मालूम हो तो ऐसे पथिक का सबसे बड़ा धन, सबसे बड़ा पाथेय, उसकी अदम्य आशा ही होती है।

लेखन-क्षमता एक ईश्वर प्रदत्त सौभाग्य है। स्त्री-लेखिका होना इस सौभाग्य को एक अतिरिक्त गुण दे देता है। अपने सीमित या निजी क्षेत्र के विषय में, यदि उसके पास क्षमता है, तो वह जितने अधिकारपूर्वक और जितनी गहराई से लिख सकती है और नारीमन की जिन अछूती अनजानी पग-डंडियों को छू सकती है, उसकी संभावना अनन्त है। बालिका का घरौंदे का मायावी संसार, किशोरी की झिझक-भरी उत्कंठा, युवती की धड़कती आकांक्षा, प्रेमिका का आतुर मन, पत्नी का सम्पूर्ण समर्पण, और मां की वात्सल्यमयी गरिमा, स्त्री के कितने ही तो रूप हैं, जिनके मन्द्र से लेकर तार सप्तक तक, कोमल शुद्ध और तीव्र सुरों की अलग-अलग ध्वनि लहर को वह पहचानती है और यदि उसकी उंगलियां दक्ष हैं, तो उनसे मन-चाहे राग बांध सकती है।

जहां तक शब्द-चयन की या भाषा की बात है, तो ऐसा कहा जाता है कि यदि किसी बोली का निजी उत्कृष्ट रूप जानना चाहो, तो वह उस जनपद की स्त्रियों की भाषा में मिलेगा। बच्चा मां से ही भाषा सीखता है, फिर चाहे उसे परिष्कृत, परिमार्जित करके वह कहीं का कहीं पहुंचा दे। अपने दैनन्दिन समरस जीवन में ही स्त्री को रस खोजना पड़ता है, इस कारण उसकी भाषा में लोच आ ही जाता है। अपनी रोजमर्रा की जिन्दगी में नयापन लाने का एक साधन भाषा-भी है। वही भाषा का अस्त्र लेखिका के हाथों में आकर साधारण दिखने वाली बातों को भी एक नई भंगिमा दे देता है। सुभद्रा के लेखन में स्त्री के यही अनेक रूप, उसके जीवन-प्रभात से लेकर जीवन-सन्ध्या तक के विभिन्न धूप-छांही रंग जहां-तहां बिखरे मिलते हैं। स्त्री का प्रेमिका का रूप कवियों के लिये अनन्त मनोहारी रहा

है। प्रेम के विरह और मिलन के गीत कभी भक्ति का गेरुआ बाना पहने, आत्म-निवेदन की पूरी विह्वलता लिये आये हैं, तो कभी विलास-मुद्रा में अपने आश्रय-दाता की शृंगार भावना को उकसाने को आये हैं। स्त्री के शरीर का, अनुवीक्षण यंत्र लेकर अलग-अलग कोणों से अनुसंधान करने में ही रीतिकालीन कवियों की वाणी ने अपनी सार्थकता मानी। परन्तु उसका, घर के अन्दर, पत्नी का, गृह-लक्ष्मी का एक सर्वमंगला रूप भी हो सकता है, बेटी का पवित्र वात्सल्यमय प्यार भी हो सकता है, मां का धरती जैसा क्षमाशीला, अभयकारक परम उदार रूप भी हो सकता है, इस पर कवियों की कृपा-दृष्टि बहुत कम पड़ी। परन्तु जीवन की समग्रता तो इन्हीं सब रूपों को लेकर चित्रित हो सकती है। सुभद्रा की रचनाओं का परिप्रेक्ष्य इस दृष्टि से अधिक व्यापक है।

बच्चे का रोना सुनकर मां का दौड़कर आना, उसे गोद में उठाकर चूम-चूम कर उसके आंसुओं से गीले गालों को सुखा देना और फिर :

दादा ने चन्दा दिखलाया
नेत्र नीर युत दमक उठे
धुली हुई मुस्कान देखकर
सबके चेहरे चमक उठे।

इस धुली हुई मुस्कान या आंसू-भरी आंखों की चमक की सुन्दरता बच्चे के साथ रहनेवाले हर एक व्यक्ति ने देखी होगी और उस पर रीझा भी होगा, पर उस मुस्कान को शब्दों में बांध देने की उसने ज़रूरत नहीं समझी।

वयः-संधि पर खड़ी किशोरी के मन की अवस्था का कितना सटीक और बिना किसी काव्यालंकार का सहारा लिये यह वर्णन है :

लाज भरी आंखें थीं मेरी
मन में उमग रंगीली थी
तान रसीली थी कानों में
चंचल छैल छबीली थी

दिल में एक चुभन सी थी
यह दुनिया अलबेली थी
मन में एक पहेली थी
मैं सब के बीच अकेली थी।

कम से कम शब्दों में, और बिना किसी उपमा-उत्प्रेक्षा के अपनी पूरी बात कह पाना, शायद आसान काम नहीं है।

राखी के अवसर पर बहिन के मन की उत्फुल्लता, भाई के प्रति उमड़ता हुआ प्यार :

बहिन आज फूली समाती न मन में
तड़ित आज फूली समाती न घन में—

आदि पंक्तियों में प्रकृति के तादात्म्य के साथ विराट् हो गया है। उमड़ी घटायें, दमकती दामिनी और लहराती लताओं के साथ बहिन का उत्फुल्ल मन एकात्मक हो गया है। और वह बहिन का प्यार, यह प्रकृति का उल्लास, सब सहेतुक है, व्यर्थ कुछ नहीं है—भाई को माता के बन्धन की याद दिलाने के लिये है। उसे लोहे की हथकड़ी वाली राखी पहननी पड़ेगी, वीर भाई ही मां के बन्धनों को काट सकता है।

बहन-भाई का प्रेम बहुत पवित्र है, मधुर है तो पति-पत्नी का प्रेम मधुर है और कर्तव्य श्री-मंडित होकर मर्यादा देने वाला है। वहां हास-विलास है, मान-मनुहार है, उपालम्भ है, विरह-व्यथा है, लेकिन यह सब उस गृहस्थाश्रम की कठिन राह पर मिलने वाले छायादार पेड़ हैं, लताकुंज है, जहां थोड़ी देर बिलम के, आदमी रास्ते की लम्बाई को, उसकी थकान को भूल जाता है। छोटा-मोटा लड़ाई-झगड़ा, कभी-कभी का रूठना-मनाना, हर पति-पत्नी के अनुभव की चीज है। इसके रस को, अपने मन के एकान्त में अनुभव सबने किया होगा। उसे कविता में बांधा एकाध ही ने।

सुभद्रा की एक कविता है :

बहुत दिनों तक हुई प्रतीक्षा
अब रूखा व्यवहार न हो
अजी बोल तो लिया करो तुम
चाहे मुझ पर प्यार न हो।

आगे पत्नी कहती है कि हे मेरे अभिमानी, तुम जरा-ज़रा-सी बातों पर मत रूठो, तुम प्रसन्न हो जाओ, मैं अपनी गलती मान लेती हूं। मैं जानती हूं कि मैं गलतियां करती हूं और तुम क्षमाशील हो। तुम्हारा मुझ पर प्यार न भी हो, तो भी मुझे तुम सदा हंसते दिखाई पड़ा करो।

इस कविता के विषय में लिखते हुए गजानन माधव मुक्तिबोध कहते हैं, "हिन्दी-साहित्य में कदाचित पहली बार प्रणय के मानव सम्बन्ध को उसकी उचित-भूमिका-प्रसंग में रखकर देखा गया है।" ऊपर उद्धृत कविता में यदि प्रसंग की भूमिका और उसके द्वारा अभिव्यक्त होने वाले एक विशेष मानव सम्बन्ध को न दिखाया गया होता, तो यह कविता अपने इस रूप में न दिखाई दी होती। साथ ही पारिवारिक जीवन के माधुर्य का चित्र भी उपस्थित न हो पाता।

मनुष्य-मनुष्य के बीच परस्पर मधुर सम्बन्ध कुछ विशेष प्रसंगों की भूमिका में अधिक उभरते हैं। उनका काव्य के माध्यम से आकलन कवि का एक प्रधान

धर्म है। कदाचित् सुभद्रा जी को छोड़कर और किसी ने इस दिशा में अधिक प्रयास नहीं किया।

मुझे छोड़कर तुम्हें प्राणधन
सुख या शान्ति नहीं होगी
यही बात तुम भी कहते थे
सोचो, भ्रान्ति नहीं होगी
सुख को मधुर बनाने वाले
दुख को भूल नहीं सकते
सुख में कसक उठूंगी मैं प्रिय
मुझको भूल नहीं सकते

जिस विश्वास और अधिकारपूर्वक यह बात कही गयी है, वह इस सम्बन्ध के प्यार और सौहार्द का द्योतक है। इस तरह के रगड़े-झगड़े तो उस सम्बन्ध को और मीठा और मजबूत बनाते हैं, परन्तु इस प्रकार की पारिवारिकता के मधुर-चित्रण हिन्दी काव्य में ज़रा कम ही हैं।

अभिसारिका का अपने को गोपन रखनेवाला साज-सिंगार या प्रोषितपतिका की शृंगार-विहीनता तो न जाने कब से नागर कवि को आकर्षित करती रही है, पर पत्नी की पति को रिझाने की इच्छा लोक-काव्य का विषय तो रहा है, लेकिन शिष्ट काव्य के लिये वह त्याज्य विषय ही रहा। पारिवारिक सम्बन्धों की मधुरता, उनकी रंगारंग विविधता ढोलक के गीत में, लोक-कविता में पूरी तरह आई है। परन्तु नागर कवि उनसे कतरा कर निकल गया है, उसी तरह जैसे सभ्य शिष्टाचार हमारी बहुत-सी आदिम, उद्दाम भावनाओं को काट-छांटकर सभ्यता के चौखटे में बैठने योग्य बना देता है। सुभद्रा की कविता अपनी भावनाओं की सच्ची अभिव्यक्ति में लोक-काव्य के बहुत निकट है। बहुत दिनों के बिछुड़े प्रियतम को रिझाने के लिये वह प्रकृति से सारे सुन्दर कोमल सुवासित उपादान मांगती है, कि जिससे उसके बराबर मोहक दुनिया में और कोई न रह जाये। यहां कुछ भी गोपन नहीं है। यह प्यार सूर्य की ऊष्मा जैसा है, सबके लिये कल्याणकारी।

आज भी पत्रों में प्रेमिका और पत्नी को अलग-अलग शिविरों में रखकर, लेखकों से उनके लेखन कर्म के संदर्भ में, उनके विशिष्ट स्थान के बारे में पूछा जाता है। प्रेमिका और पत्नी, या प्रेमी और पति अलग-अलग खेमों में क्यों बंट गये हैं यह बात समझ में नहीं आती। पति अथवा प्रेमी यदि प्रेम के आरम्भ के दिनों-जैसा ही रुक जाये, उसमें कोई परिवर्तन न हो, तो फिर पत्नी और उसके परिवर्तित रूपों के प्रति वह एक तटस्थ भाव से आलोचक दृष्टि रख सकता है, परन्तु वह भी

तो उसी कालगति की चपेट में आकर बदलता रहता है। फिर यह साथ का जिया जीवन, साथ-साथ बदलता रूप दोनों के सम्बन्धों को भी तो नये-नये आयाम देता चलता है। जीवन का यह नित्य परिवर्तनशील, किन्तु शाश्वत रूप काव्य का विषय क्यों नहीं बन सकता ? सम्पूर्ण जीवन साहित्य का कच्चा माल है। यह ठीक है कि उस कच्चे माल में से लोग अपनी आवश्यकता और अपनी रुचि के अनुसार ही माल उठाते हैं। जौहरी को रत्न चाहिए, कुम्हार को माटी चाहिए, लकड़हारे को जंगल की लकड़ी चाहिए, परन्तु किसान को तो हल, बैल, धरती, बीज सभी कुछ चाहिए। तभी वह उससे फिर से नया जीवन उपजा सकेगा, उसे नया जीवन दे सकेगा। यह लिखने वाले की अपनी रुचि या अपने सौंदर्य-बोध की बात है कि वह शिव को चाहता है या सुन्दर को। वह अपनी कामनाओं की काल्पनिक पूर्ति में ही मगन रहता है या अपनी कुंठा के वाग् विलास में ही तृप्ति पा लेता है। हमारे देश की परम्परा में तो परिवार की सीमा बंधी-टकी नहीं है। वह मन की उदारता के अनुरूप विस्तार पाती जाती है। वह प्रकृति से, पेड़-पौधे से, अपने पालतू जानवर से, सबसे अपना नाता जोड़ लेता है। नर्मदा की परिक्रमा को जाता श्रद्धालु गाता है, "नरमदा मैया ऐसी तो मिली, जैसे मिल गये महतारी और बाप"। बच्चे को बताया जाता है कि सांझ ढले पेड़ों को नहीं छूते, क्योंकि पेड़ सो जाते हैं। तुलसी को जल चढ़ाकर, प्रणाम करके ही गृहिणी का दिन शुरू होता है, घर का जानवर भी घर का प्राणी गिना जाता है। उस बेमुंह के प्राणी को दाना-पानी देने के बाद ही घर की मालकिन के मुंह में अन्न का दाना जाता है। जहां अपने परिवेश से इतना तादात्म्य हो वहां फिर काव्य विषय की कमी कैसे हो सकती है ? सुभद्रा का परिवेश भारतीय नारी का परिवेश था। यह उदार पारिवारिकता उनके साहित्य की विषय-वस्तु थी।

झंडा सत्याग्रह के समाप्त होने के बाद लक्ष्मण सिंह और सुभद्रा वापिस जबलपुर में स्थायी रूप से रहने को आ गये। लेकिन अब कर्मवीर जबलपुर से खंडवा चला गया था। जीवनयापन के लिये क्या किया जाये ? यह इन लोगों के सामने बड़ी भारी समस्या थी। इस बीच सुभद्रा एक बेटी की मां भी बन गयी थीं। उनकी जिम्मेदारियां बढ़ गयी थीं। कई प्रकार के स्वतन्त्र रोजगारों में भाग्य आजमाने के बाद अन्त में लक्ष्मण सिंह को यही लगा कि बिना पूंजी के केवल एक काम हो सकता है, जिसमें यदि पूंजी लगनी है तो वह बुद्धि की लगनी है, या फिर स्व-अर्जित विद्या की, और वह व्यवसाय है वकालत। जिस वकालत के पेशे से वे बचना चाहते थे, लक्ष्मण सिंह को हारकर फिर वही अपनाना पड़ा। गांधी जी ने अछूतोद्धार का और स्वदेशी के प्रचार का रचनात्मक कार्यक्रम अपना लिया था। सुभद्रा के पास अपना लिखना-पढ़ना था, कांग्रेस का काम और सामाजिक काम थे, और सबसे बड़ा था—एक जीता-जागता खिलौना, उनकी बेटी। उन्होंने लिखा :

मैं भी उसके साथ खेलती
खाती हूँ तुतलाती हूँ,
मिलकर उसके साथ स्वयं
मैं भी बच्ची बन जाती हूँ।

बचपन जब बीत जाता है तब सभी को उसकी याद आती है। चिन्ता-विमुक्त होकर खेलना, खाना और स्वच्छन्द होकर निडर भाव से इधर-उधर घूमना, बचपन में जो सुख अनायास मिल गया था, वह जब छूट जाता है, तब उसकी कीमत मालूम होती है। इस दृष्टि से मां बहुत भाग्यशालिनी होती है। बच्चे की जिम्मेदारियों के साथ-साथ, बच्चे के सान्निध्य से वह बचपन के भोले आनन्द को फिर से पा लेती है। सुभद्रा का संसार अपनी बिटिया में केन्द्रित हो गया था :

मेरा मन्दिर, मेरी मस्जिद
काबा काशी यह मेरी,
पूजापाठ ध्यान जपतप है
घट घट वासी यह मेरी।

उनके पुलकित मातृ-हृदय ने वात्सल्य की कुछ बहुत सुन्दर कवितायें हिन्दी को दी हैं। ममता और उल्लास के छलकते मां के हृदय के भावों को एक मां से अच्छा और कोई नहीं बता सकता। स्त्री के प्रस्फुटित होते व्यक्तित्व को बच्चा ममता के सौरभ और अनुराग से रंगमय बना देता है, उसे सुषमा-मंडित कर देता है।

सुभद्रा की कवितायें छिट-पुट इधर-उधर पत्रों में छपी बिखरी हुई थीं। उन्हें पुस्तक रूप में भी छपाया जा सकता है, यह उन्हें सूझा ही नहीं। सन् १९३० में एक प्रकाशक बन्धु ने उनकी आज्ञा लेकर, कविताएं एकत्र कीं और उन्हें पुस्तक रूप में मुकुल के नाम से प्रकाशित किया। उसी वर्ष उसे स्त्री-लेखिकाओं की सर्वश्रेष्ठ कृति पर मिलनेवाला हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन का सेकसरिया पुरस्कार भी मिल गया। उस समय लक्ष्मण सिंह जेल में थे। अपने उस गाढ़े समय में पुरस्कार की ५००) रु० की राशि सुभद्रा के बहुत काम आयी। मुकुल के प्रकाशित होते ही हिन्दी संसार ने उसे हाथों-हाथ लिया। हिन्दी पुस्तकों की बिक्री को देखते हुए उसकी बिक्री भी बहुत अच्छी हुई। शायद कहीं पाठ्यक्रम में भी लग गयी थी, एक-के-बाद एक, उसके कई संस्करण निकले, परन्तु मुकुल के प्रकाशन से उन्हें केवल इतना ही लाभ हुआ कि उनकी कवितायें एक जगह संकलित होकर छप गयीं।

५

देश का राजनीतिक आंदोलन शिथिल हो गया था। जब इस तरह का देश-भक्तिपरक आंदोलन उभार पर होता है, तो वह उस समाज में और अपने कार्य-कर्ताओं में, उनके अन्दर जो कुछ सुन्दर होता है, उदात्त होता है, उसे उभार कर ऊपर लाता है, वैसे ही जैसे दही मथे जाने पर मक्खन ऊपर आ जाता है। लेकिन आंदोलन के शिथिल होने पर समाज की बुराइयां और कार्यकर्ताओं के चरित्र का कर्दम सिर उठाने लगता है, तल में से उठकर ऊपर आने लगता है। सत्याग्रह आंदोलन के शिथिल होने पर समाज की जो कुंठायें थीं, जो विकृतियां थीं वे फिर उभरने लगीं। सुभद्रा सामाजिक कार्यकर्ता के रूप में जेल जा चुकी थीं, पर्दा छोड़ चुकी थीं, छुआछूत नहीं मानती थीं, पुरुषों के साथ कन्धे-से-कन्धा मिलाकर काम करती थीं और जहां उनकी स्त्री मित्र थीं वहां पुरुष मित्र भी थे। स्पष्ट ही है कि आज से ४५-५० साल पहले इस प्रकार के नारी-रूप को कितनी भर्त्सना, कितना लांछन न सहना पड़ा होगा। लेकिन सुभद्रा जो कदम आगे बढ़ा चुकी थीं, उसे वापिस लौटाना अब असंभव था। और कम-से-कम अपने पति की ओर से वे आश्वस्त थीं कि वे उन्हें पूरी तरह समझते हैं और अपनी सद्भावना और विश्वास उन्हें देते हैं। लेकिन वे उस अपने समाज को क्या करें, उन आक्षेपों को क्या करें? उसकी चोट और उसका अनुताप तो उनके हृदय को व्यथित करता ही था। उस पीड़ा को वे कब तक मन में संजोये रखतीं? अन्त में उस प्रताड़ित नारी मन ने अपनी अभिव्यक्ति कहानी के माध्यम से पाई।

अनेक पत्रिकाओं के सम्पादकगण बार-बार उनसे किसी गद्य रचना की मांग करते थे, परन्तु किसी की मांग करने से ही कोई कविता या कहानी कैसे लिख सकता है? असल कारण यही होगा कि समाज की जिन विसंगतियों और अत्याचार के खिलाफ़ वे आवाज उठाना चाहती थीं और अपने आत्मसम्मान की रक्षा के लिये, अपने मानवोचित अधिकारों को पाने के लिये संघर्षरत नारी की जो कल्पना उनके मन में थी, उसकी सही अभिव्यक्ति का माध्यम गद्य ही हो सकता था। किसी टेढ़ी चीज को सीधा करने के लिये उस पर सीधी चोट मारना जरूरी होता है।

काव्य की प्रतीकात्मक उक्ति में वह झटका देने की, खड़ी चोट की शक्ति नहीं आ सकती थी।

सुभद्रा ने कहानी लिखना शुरू कर दिया था। कविता की ही भांति उनके गद्य में भी बोलचाल की भाषा में मन के भावों की सहज अभिव्यक्ति थी। उनकी कहानियों में दो ही स्वर प्रमुख रूप से आये हैं, एक तो देश को पराधीनता से मुक्त कराने वाले युद्ध का स्वर और दूसरा अपने स्वत्व की रक्षा के लिये संघर्षरत नारी का स्वर। मध्यवित्त परिवार के रहन-सहन की बड़ी अंतरंग झलकियां भी उनकी कहानियों में मिलती हैं।

नमक सत्याग्रह में लक्ष्मण सिंह जेल चले गये थे। अकेली सुभद्रा अपने नन्हे-नन्हे बच्चों और बूढ़ी सास के साथ, इस लम्बी-चौड़ी दुनियां में बिना किसी पुरुष संरक्षक के रहती थीं। परिवार के जीवनयापन के लिये वकालत की आकाशवृत्ति का सहारा था, और अब उसे भी कमाने वाला जेल में था। किसी प्रकार की आर्थिक सुरक्षा नहीं थी। यों मुकुल पर पुरस्कार मिल चुका था और उसके ५००) रु० उनके हाथ में थे। लेकिन घर-गृहस्थी के खर्च के साथ-साथ और भी कई तरह के खर्च थे। लक्ष्मण सिंह को जेल की सजा के साथ-साथ कुछ जुर्माना भी हुआ था। जेल की सजा तो वे स्वयं काट लेते, लेकिन उनका जुर्माना कौन भरता? कांग्रेस की नीति थी कि जुर्माना न भरा जाये, लेकिन अन्य सम्पन्न सहयोगी बन्दियों के जुर्माने किसी अनाम व्यक्ति द्वारा अदा कर दिये जाते थे। लक्ष्मण सिंह इस कृपा-दृष्टि से वंचित रह जाते थे। उनके जुर्माने की अदाई के लिये घर पर बार-बार कुर्की आती थी। सुभद्रा का कुछ पैसा तो कभी कुर्की के सिपाहियों को कुछ दान-दक्षिणा देकर विदा करने में जाता और कभी-कभी अपने ही सामान की बोली बोलकर खुद खरीदना पड़ता। फिर सास का रोज का पूजा-पाठ, दान-पुण्य था, बच्चों की हारी-बीमारी थी, खाना-पीना था, पहनना-ओढ़ना था। ५००) रु० की बिसात ही कितनी होती है और सुभद्रा की मुट्ठी कसी नहीं थी, वे खुले हाथों खर्च करने की आदी थीं। हाथ में पैसा हो तो उससे हाथ हल्का करने के उन्हें अनेक तरीके आते थे। यों भी वे कहा करती थीं कि पैसा हाथ का मैल है और अपने हाथों में उन्होंने कभी मैल टिकने नहीं दिया।

पत्रिकाओं के सम्पादक उनसे कहानी मांग रहे थे और कहानी पर पारिश्रमिक मिलता था। अकेली स्त्री के, समाज की छिद्रान्वेषी आलोचक दृष्टि का सामना करने के, न जाने कितने कटु-तिक्त अनुभव उनकी झोली में होंगे। उन्होंने कहानी लिखना शुरू कर दिया। सुनते हैं सीप में यदि किसी तरह बालू का एक कण चला जाये, तो उस पर परत चढ़ते-चढ़ते वह आबदार सुन्दर मोती बन जाता है। अपनी अनुभूति या दूसरे के अनुभवरूपी बालू के कणों पर कल्पना की परत चढ़ाकर उनकी कहानियां सुन्दर बन गयीं। शायद सभी लिखनेवालों के विषय में यह सच

हो कि सचाई के कण के ऊपर उनके काल्पनिक कृतित्व का मनोहारी आकार खड़ा होता है। सुभद्रा के संदर्भ में यह तथ्य बहुत अंशों में सत्य है कि उनकी कहानियों का प्रासाद ठोस धरती पर आधारित है। इसलिये शिल्पगत चातुर्य या कलात्मक सौष्ठव अपेक्षाकृत कम होने पर भी उनकी कहानियां मन को छूती हैं। सहजता और कला का संबंध किस प्रकार का है यह तो कोई अधिकारी व्यक्ति ही कह सकता है। किन्तु जीवन के किसी अंश की सहज यथार्थ अभिव्यक्ति कठिन काम अवश्य है। असल चीज़ है उस जीवनांश को देख सकनेवाली परिमार्जित सधी हुई दृष्टि। किसी सुन्दर लड़की के सहज सौन्दर्य को वस्त्राभूषणों की अधिकता से धूमिल किया जा सकता है और उसी सौन्दर्य को उपयुक्त और अनुकूल परिधान में और उभारा जा सकता है, परन्तु इस काम के लिये उस सौन्दर्य की खूबियों को पकड़ने वाली सधी दृष्टि बहुत आवश्यक है। अभिव्यक्ति की विभिन्न शैलियां, विभिन्न लेखकों के व्यक्तित्व से प्रभावित तो होती ही होंगी। सरल व्यक्ति की निश्छल आंखों में कुटिलता जल्दी दिखती न होगी और कुंठाग्रस्त रोगी मनवाला व्यक्ति किसी सुन्दर मुस्कुराहट को देखकर खुश होने के बदले शायद उस मुस्कुराहट में छिपी किसी अज्ञात कुटिलता की झलक पाता होगा। किसी भी लिखने वाले के लिये जीवन अपनी पूरी विविधता लिये, अपनी रंग-बिरंगी झलकियां लिये और डरावने अंधेरे खन्दकों को अपनी विराटता में समेटे, उसके सामने फैला रहता है। अब तो यह उस शब्द-शिल्पी की आंख है कि वह उन अंधेरी खन्दकों में भी हरी दूब का नन्हा-सा अंकुर देख ले या फर उस सावन की उमड़ी घन-घटा और रिमझिम फुहार में जमीन पर रेंगते कीड़ों को देख ले। उसका लिखना भी तो उसके अन्तर्मन का दर्पण है।

सुभद्रा ने कहानियां लिखना शुरू कर दिया था। पत्रिकाओं में छपने के बाद वे प्रशंसित भी हुई थीं, फिर भी कहानी-लेखन सुभद्रा के लिये एक नयी विधा थी और इस कारण वे बहुत आश्वस्त नहीं थीं। उनके साहित्य रसिक पति जेल में थे कि कभी-कभार उनकी ही राय जान लेतीं। मुकुल छपवाने के बाद प्रकाशक का उनका अनुभव बहुत सुखकर नहीं था, तो उन्होंने तय किया कि अपना कहानी-संग्रह वे खुद छापेंगी। परन्तु छपवाने के पहले किसी रसज्ञ की, किसी साहित्यालोचक की सम्मति भी जान लेना चाहती थीं। मध्य प्रदेश के, उनके पूर्व परिचित साहित्यकार श्री पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी उन्हीं दिनों जबलपुर आये। उन्हें सुभद्रा ने अपनी कहानियां पढ़ने को दीं और यदि आवश्यक हो तो संशोधन करने के लिये भी कहा। इसी प्रसंग में सुभद्रा की कहानियों के विषय में बख्शी जी ने लिखा है, "यदि उनमें (कहानियों में) सच्चे भावों की सच्ची अभिव्यक्ति हुई है, तो उनमें संशोधन की आवश्यकता नहीं है। कहानियों में जीवन की सच्ची अनुभूति ही काम करती है। कथा-साहित्य में जो भाव-वैचित्र्य है, उसका कारण हम लोगों

की यही अनुभूति है। इसी प्रकार शैली में भी हम लोगों का व्यक्तित्व प्रकट होता है, इसी से मैंने उनसे (सुभद्रा से) प्रार्थना की कि वे अपनी कहानियों में किसी से भी किसी प्रकार का संशोधन न करायें।" अन्त में मित्रों की राय मानकर सुभद्रा ने अपनी कहानियों को उसी रूप में छपवाया जिस रूप में वे लिखी गयी थीं।

प्रायः लेखकों को, प्रकाशकों का अनुभव, बहुत अच्छा नहीं होता है, परन्तु लेखक यदि स्वयं प्रकाशक बन जाये, तो मैं समझती हूं यह अनुभव पहले अनुभव से कुछ और बुरा ही होता होगा। साधन-विहीन लेखक किसी प्रकार उधारी पर काग़ज़ का इन्तजाम करके, किसी प्रेस में किस्तों में छपाई अदा करने की व्यवस्था करके अपनी पुस्तक छपवा भी ले, तो उसे बेचे कैसे ? बेचने का जो तंत्र है वह तो उसके बस का नहीं है। उसकी एक अलग ही दुनिया होती है। सुभद्रा के पहले कहानी-संग्रह 'बिखरे मोती' का भी यही हाल हुआ। जबलपुर के ही एक स्कूली पुस्तकों के प्रकाशक की सहायता से प्रेस और कागज़ की व्यवस्था हो गयी। सात दिन इलाहाबाद में रहकर सुभद्रा ने अपनी पुस्तक के प्रूफ़ देखे और छपी पुस्तक लेकर प्रसन्नमना जबलपुर लौट आयीं। पुस्तकें मित्रों और साहित्य-प्रेमियों को भेंट देने में खर्च होने लगीं, लेकिन इस तरह तो कागज और छपाई का पैसा भी नहीं निकलता। अन्त में हारकर सारी किताबें इलाहाबाद के एक प्रकाशक को बेचने के लिये देनी पड़ीं।

'बिखरे मोती' का भी उनके कविता-संग्रह 'मुकुल' की भांति हिन्दी संसार ने मुक्त हृदय से स्वागत किया। घरेलू जीवन की अंतरंग झांकियां और अपने व्यक्तित्व की प्रतिष्ठा के लिये व्यग्र स्त्री की छटपटाहट, पहली बार किसी स्त्री की लेखनी द्वारा व्यक्त की गयी। यह नहीं कि पुरुष लेखक उन भावों को व्यक्त नहीं करते थे, या बहुत-से सहृदय लेखकों ने, स्त्री-शिक्षा के लिये, पर्दे की बुराइयों को बतलाते हुए, और स्त्री के मानवोचित अधिकारों के लिये अपने लेखन द्वारा संघर्ष नहीं किया। इस दिशा में पुरुषों का योगदान बहुत बड़ा है। लेकिन किसी स्त्री लेखिका द्वारा लिखे जाने पर इन भावनाओं में जैसे सच्चाई का एक और ठप्पा लग जाता है। अपने परिवार में और समाज में प्रचलित रूढ़ियों से लड़ने में और अपने व्यक्ति-स्वातन्त्र्य के लिये लड़ने में उसे कितने स्तर के और कैसे-कैसे युद्ध-कौशल से काम लेना पड़ा है इसे कोई भुक्तभोगी कहे तो उस संघर्ष की कथा, और यदि उसमें उसकी हार भी हुई है तो वह वर्णन भी, एक अनुकूल वातावरण तैयार करने में समर्थ होता है।

सुभद्रा की एक कहानी है 'होली'। एक पति-पत्नी हैं। पति को शराब पीने में, नाच देखने में, जुआ खेलने में कोई हिचक नहीं है और यदि जुए में लम्बी रकम जीत जाये तो वह प्रसन्न होता है। पत्नी के लिये उसका पति परमेश्वर तो है, परन्तु उसके सामने ईमानदारी और सच्चरित्रता के कुछ आदर्श भी हैं। पति के जुए में

जीतकर लाये हुए रुपयों को वह छूना भी नहीं चाहती, उन्हें पाकर खुश होना तो दूर की बात है। इन परिस्थितियों में यदि वह खड़ी होकर पति की भर्त्सना करे, उसे ईमानदारी और सत्यनिष्ठा पर भाषण दे, जुआ और शराब आदि व्यसनों के बारे में समझाये, तो पति-पत्नी के आपस के सम्बन्धों का चाहे जो हाल हो, पढ़ने वाले के मन को कहानी छू भी न पायेगी। सुभद्रा की कहानी में नायिका रुपयों को छूती तो नहीं पर इन्कार भी नहीं करती है। बहाना करती है कि वह आटा गूंध रही है, अभी उसके हाथ सने हैं। पति उसके मनोभावों को जानता है। उसके इस सविनय प्रतिरोध को समझता है और गुस्से में रुपये उठाकर उसे धक्का देता हुआ बाहर चल देता है। पति के सामने उसका खुल्लमखुल्ला विरोध न कर सकने की निरीहता के साथ-साथ अपने सिद्धान्त पर अडिग रहे आने की दृढ़ता, पत्नी के चरित्र को एक प्रामाणिकता दे देती है। एक साधारण मध्यवित्त परिवार की गृहिणी अपने पति और संतान की मंगल कामना के लिये हर प्रकार के अनाचार से डरती है और इसी कारण पति पर अपनी हर बात के लिये अवलम्बित होने पर भी, किन्हीं बातों में अडिग रही आती है। इस तरह के स्त्री चरित्र, जो निरीह हैं, प्रताड़ित हैं, दुःखी हैं, परन्तु इस सब के बाद भी किसी भी कीमत पर अपनी मान्यताओं को छोड़ने को तैयार नहीं होते, सुभद्रा की कहानियों में बिखरे पड़े हैं।

मध्यमवर्ग में, जहां सीमित आय में बड़े-से परिवार का निर्वाह करना होता था और आज से करीब ५० साल पहले अधिकतर संयुक्त-परिवार ही होते थे, ऐसी स्थिति में घर की बहू की दशा कितनी दयनीय होती थी, इसका वर्णन उनकी कई कहानियों में मिलता है। बहू घर-भर की दासी थी, सबकी सेवा करना, सब लोगों की सुख-सुविधा जुटाना तो उसका कर्त्तव्य था, परन्तु इस सबके बाद भी उस घर पर उसका कोई अधिकार नहीं था। सास के शासन में, उसकी शंकालु निगाह के नीचे उसे रहना पड़ता था और पति भी जोरू का गुलाम समझे जाने के बदले उस पर शासन करने में ही अपने पौरुष की सार्थकता समझता था। इस स्थिति को अपना प्रारब्ध मानकर स्त्री सदा से सहती आयी थी। परन्तु समय के साथ परिस्थितियां भी बदली थीं। स्त्रियों में शिक्षा का प्रसार हो रहा था। पर्दे के खिलाफ़ आवाजें उठने लगी थीं। विदेशी शासन के खिलाफ़ जनमत तैयार हो रहा था। उसने हर प्रकार के शोषण के विरुद्ध एक हवा-सी बांध दी थी। शोषित वर्ग के प्रति सहानुभूति ने स्त्री की दशा के प्रति भी लोगों का ध्यान आकर्षित किया था। स्त्री-शिक्षा, पर्दे का बहिष्कार, विधवा-विवाह, ये सब बातें आम लोगों की विचार-धारा का अंग बनने लगी थीं, और उसी अनुपात में साहित्य की भी विषयवस्तु बन रही थीं। समाज के परिवर्तन की दिशा साहित्य की रुचि को प्रभावित करती है और फिर उससे प्रभावित साहित्य उस समाज-परिवर्तन की गति को और बढ़ा देता है। ये दोनों परिवर्तन अन्योन्याश्रित होते हैं। हिन्दुस्तान में उन्नीसवीं सदी के शुरू में

लिखा गया साहित्य, चाहे वह किसी भी भाषा का हो, इस बात का प्रमाण हैं। देश के लिये वह एक सर्वतोमुखी जागृति का काल था। समाज में जड़ रूढ़ियों को तोड़कर एक आदर्शोन्मुख प्रगतिगामी परिवर्तन के लक्षण दिख रहे थे। छुआछूत और धर्म के नाम पर चलने वाले ढोंग-ढकोसलों को छोड़ने की हिम्मत, लोगों में दिखाई पड़ने लगी थी। उस समय लोगों के सामने एक बहुत ही स्पष्ट और बड़ा लक्ष्य था—देश की स्वाधीनता का। जब लक्ष्य स्पष्ट हो तो भटकाव की गुंजाइश कम हो जाती है। इसी कारण उस समय के साहित्य में देशभक्ति का स्वर यदि प्रमुख था तो वह सकारण था। यदि त्याग, बलिदान और साहस के आदर्श की बातें साहित्य में प्रमुख स्थान पा रही थीं तो इसमें आश्चर्य क्या? उस समय यदि सुभद्रा लिख रही थीं कि "विश्वास-प्रेम-साहस हैं, जीवन के साथी मेरे" तो वह अतिशयोक्ति नहीं कर रही थीं। यही गुण तो उनके जीवन की शक्ति, उनका सम्बल थे। उनकी बहुत-सी कहानियों में देश-प्रेम और उसके लिये किये गये उत्सर्ग का स्वर प्रमुख है। नागपुर में झंडा-सत्याग्रह के समय सुभद्रा को मालूम था कि कुछ पुलिस अधिकारियों की सहानुभूति सत्याग्रहियों के साथ थी। वे उन्हें पूर्व सूचना दे देते थे और कार्यकर्त्ता अपना बचाव कर सकते थे, जिससे आन्दोलन का काम निर्विघ्न चलता रहे। सुभद्रा की एक कहानी है 'पापी पेट'—जिसमें एक पुलिस कान्सटेबल, एक दारोगा, एक सिटी कोतवाल और एक मजिस्ट्रेट के अलग-अलग आत्मकथ्य से यह दिखलाया है कि किस प्रकार ये लोग अपनी रोजी-रोटी की समस्या के कारण आत्मा को दुख देनेवाले काम को करने के लिये विवश होते हैं। सबसे निम्न वर्ग का प्रतिनिधि पुलिस कान्सटेबल, सभा भंग करने के लिये निहत्थी जनता पर लाठी-चार्ज करने की ग्लानि के कारण, नौकरी छोड़कर वापिस अपने गांव चला जाता है कि खेती करके अपना पेट पाल लेगा। उसकी आवश्यकतायें बहुत सीमित हैं। लेकिन जैसे-जैसे सामाजिक स्तर ऊंचा होता जाता है, जीवन-यापन की आवश्यकतायें बढ़ती जाती हैं, और उसी अनुपात में आत्मा के हनन का अनुताप कमज़ोर पड़ता जाता है। सुभद्रा की अपनी कहानी का विषय, हो सकता है ऐसे ही किसी अफ़सर से मिला हो। इसी रंग की बहुत-सी कहानियां हैं। कुछ में घटनाओं को ऐसा मोड़ दे दिया गया है कि अपनी अभीष्ट बात कह सकें। कुछ कहानियों में संयोग का आश्रय लिया गया है, लेकिन यह सब लिखी गयी हैं एक ऐसी स्त्री के द्वारा जो स्वयं देश-प्रेम में रसी-बसी है और स्वाधीनता के संग्राम में तन-मन से भाग ले रही है। इसलिये उसके स्वर में एक ईमानदारी की गूंज है, और कथन में एक विश्वास की दृढ़ता और सत्य का बल है। देश-प्रेम के व्यापक अर्थ में साम्प्रदायिक सद्भावना भी मिली-जुली है। उनकी कई कहानियों में इसका रंग भी उभरा है। एक कहानी है 'हींग वाला'। यह कहानी एक पठान हींगवाले की है, जो हींग बेचने एक घर में आया करता है, और लम्बे परिचय के कारण घर की स्त्री

को अम्मां कहने लगा है। घर के छोटे बच्चे ख़ान से नाराज़ रहते हैं कि अम्मां उन्हें तो मांगने पर पैसे नहीं देती, लेकिन जरूरत हो या न हो ख़ान से हींग लेकर पैसे दे देती हैं। मां मीठे स्वभाव की स्त्री है, बार-बार घर पर आने के कारण उसे ख़ान से कुछ मुरौवत-सी हो गयी थी। एक बार बच्चे नौकर के साथ दशहरे का जुलूस देखने जाते हैं और वहां बड़ा भारी दंगा हो जाता है। मां बच्चों को बाहर भेजने के बाद से ही उनकी मंगल कामना के लिये व्याकुल हो जाती है और उन्हें ज्यों-ज्यों लौटने में देर होती है, उसकी व्याकुलता की सीमा नहीं रहती। दंगे की खबर सुनकर तो वह धीरज खो देती है और फूट-फूटकर रोने लगती है। इसी समय हींग वाला ख़ान उसके तीनों बच्चों को सकुशल अपने साथ ले आता है। यह घटना ठीक इसी तरह तो सुभद्रा के जीवन में नहीं घटी, पर एक हींगवाला ख़ान उनके यहां आया करता था, और घर में उसी अधिकारभाव से आता था मानो घर का ही प्राणी हो। अपने देश जाता था, तो लौटते समय सूखे मेवों का उपहार भी लाना न भूलता था।

परन्तु यदि लिखनेवाले की दृष्टि संतुलित हो, तो वह इस,साम्प्रदायिक समस्या के अन्य पहलू भी देख सकता है। सुभद्रा जानती थीं कि हिन्दू-मुस्लिम सद्भावना कितनी जरूरी है, किन्तु परिस्थिति की विवशता, चाहे वह स्वयं की बनाई हुई हो, चाहे बाह्य-आरोपित हो, उसकी वेदना भी उनसे छिपी न थी। एक हिन्दू बाल-विधवा का अपने संस्कारों से चिपके रहना, भले ही बड़े होने पर न जाने किन परिस्थितियों में पड़कर वह एक मुसलमान के घर में हो, यह तथ्य उनकी कहानी 'एकादशी' में बड़े मार्मिक ढंग से आया है।

यह उनकी दृष्टि का संतुलन ही था कि उन्होंने राष्ट्र-प्रेम की कवितायें तो बहुत लिखीं, पर कहीं भी उनमें फेनिल भावोच्छ्वास नहीं है और न कहीं प्रलयंकारी उच्च घोषणायें ही। एक आम जीवन-प्रवाह के एक छोटे-से टुकड़े को, किसी भाव-सघन क्षण को, एक कलाकार की सधी दृष्टि से उन्होंने कविता या कहानी में बांध लिया है।

सुभद्रा की कितनी ही कहानियों में उनके अपने जीवन प्रसंग या अनुभूति के मार्मिक टुकड़े कथा का हल्का-सा आवरण ओढ़े आ गये हैं। वे कहानी कम, उनकी आत्म-कथा की घटनायें जैसे ज्यादा लगते हैं, उन्हें संस्मरण भी कह सकते हैं, बस, जरा-सा कल्पना का रंग चढ़े हुए। अपनी बेटी को. विवाह के पश्चात् विदा कर देने के बाद मां की क्या मनःस्थिति होती है, उस बेटी को, जिसे मां ने स्वयं उसके विवाह के बाद विदा किया है, उसका वियोग उसे कितना तड़पाता है ? यह उनकी कहानी 'मंगला' में बड़ी मार्मिकता से चित्रित हुआ है। यह उनके अपने ही मातृ हृदय का क्रन्दन था, जिसे उन्होंने कहानी का बाना पहना दिया था। बेटी की विदाई यों ही बहुत करुण होती है। यह एक जगह से टूटने और नयी जगह जुड़ने

का क्षण होता है, संक्रान्ति काल—अस्थिर, अनिश्चित। सुभद्रा के जीवन का यह क्षण और अधिक हृदय-द्रावक हो गया था, क्योंकि सन् १९४२ के भारत छोड़ो आन्दोलन में सुभद्रा और उनके पति, दोनों ही गिरफ्तार हो गये थे। सुभद्रा तो नौ-दस महीने बाद, बहुत बीमार होकर जेल से मुक्त हो गयी थीं, पर लक्ष्मण सिंह तीन साल तक क़ैद रहे। इसी बीच उनकी बड़ी बेटी का विवाह हुआ और बेटी को विदा करने की सारी वेदना अकेले उन्हीं को सहनी पड़ी। उनके पति ने जेल से उन्हें समझाते हुए लिखा कि मैं भाग्यवान हूं कि बेटी की विदा के समय वहां नहीं रहूंगा। पर तुम हिम्मत से काम लेना। याद करो, एक दिन इसी तरह अपने घर वालों को रुलाकर तुम भी तो विदा होकर आयी थीं।

भारत छोड़ो आन्दोलन में दोनों पति-पत्नी गिरफ्तार हो गये थे और उनके चार बच्चे इस लम्बी-चौड़ी दुनिया में बिना किसी सहारे के अकेले छूट गये थे। लड़की सबसे बड़ी थी, बी० ए० की विद्यार्थिनी और उसके तीन छोटे भाई थे, जिनमें सबसे छोटा उस समय किण्डर गार्टन में पढ़ता था। मां-बाप किस तरह दिल पर पत्थर रखकर जेल में अपने दिन बिताते होंगे, यह तो उनका ही दिल जानता होगा, पर उन्होंने कभी भी अपने मन की व्यथा या चिन्ता अपने बच्चों पर प्रकट नहीं की। लेकिन फिर भी अपने मासूम बच्चों को अकेले इस संसार में जूझने के लिये छोड़कर चले जाने की चिन्ता और बच्चे कितने निराधार हैं, इसका परिज्ञान तो उनको भीतर-ही-भीतर खाये जाता था। वे अपनी मनोव्यथा किससे कहतीं, सिवा इसके कि उसे 'तीन बच्चे' नामक कहानी में उन्होंने काग़ज़ पर उतार दिया। उनकी बहुत-सी कहानियां, कहानियां भी हैं, साथ ही उनके जीवन-चित्र के टुकड़े भी हैं। यों तो कोई भी लेखक अपने लेखन में एकदम असंपृक्त रह ही नहीं सकता, अपने किसी-न-किसी पात्र में या किसी-न-किसी घटना में वह या उसका जीवन-वृत्त झलक ही जाता है। सुभद्रा का लेखन और उनका कर्म संकुल जीवन, एक-दूसरे में इतने घुले-मिले हैं कि दोनों की समानान्तर रेखायें खींच सकना मुश्किल है। वे उलझी-पुलझी रेखायें एक-दूसरे को कभी काटतीं, कभी एक-दूसरे में उलझतीं, साथ-साथ चलती हैं।

६

सुभद्रा के विषय में लिखते हुए मुक्ति बोध ने बड़ी संवेदनशील अन्तर्दृष्टि से उनके साहित्य का विवेचन किया है। वे लिखते हैं कि "व्यक्तिगत भावों को निर्वैयिक्तकता कई प्रकार से प्रदान की जाती है। भावों को बहुत गहरे रंगों में उभार कर रखने से भी, उनकी व्यक्ति-मूलक सीमायें टूट जाती हैं और वह अन्य व्यक्ति द्वारा सहज सम्वेद्य हो जाता है। सुभद्रा जी ने ऐसा नहीं किया है। उनके काव्य की सर्वगम्यता और सहज सम्वेद्यता सीधी अभिव्यक्ति के कारण ही नहीं है, वरन् जीवन प्रसंगों की भूमिका में किसी एक भाव क्षण को उपस्थित करने के कारण उनमें वह गुण उत्पन्न हुआ, जिसे हम मानवीयता कहते हैं।"

अन्य राष्ट्रीय कवियों ने उन देश-भक्तिपूर्ण भाव क्षणों को, जीवन प्रसंगों की वास्तविक भूमिका से विछिन्न कर उन्हें एक आत्म-सम्पूर्ण रूप देने का प्रयास किया। सुभद्रा जी के राष्ट्रीय काव्य में, जीवन का जो ऊष्मापूर्ण सम्पर्क है उसके द्वारा ही वह मानवीयता उत्पन्न हुई है।

पहले कहा जा चुका है कि जीवन के विविध वास्तविक प्रसंगों में सम्बन्धित संवेदनात्मक प्रतिक्रियाएं सुभद्रा जी के काव्य का मूल आधार होने के साथ ही साथ उनके व्यक्तित्व की विशेषताओं पर हमारी दृष्टि ले जाती है। हमें स्थान-स्थान पर यह अनुभव होता है कि सुभद्रा जी अपने भावों को एक वैक्यूम में रख कर फिर उन पर कविताएं नहीं गढ़ती थीं, वरन् उन ताज़ी संवेदनात्मक प्रतिक्रियाओं को सहज रूप से काव्य-महत्व प्रदान कर उन्हें पद्य-बद्ध कर देती थीं।"

शायद ऐसी ही ताज़ी संवेदनात्मक प्रतिक्रियाओंको सहज रूप से काव्य महत्व प्रदान कर उन्हें पद्य-बद्ध कर देने की प्रक्रिया में सुभद्रा ने बच्चों के लिये कवितायें लिखना प्रारंभ कर दिया था। अपने बच्चों के खेल-कूद, उनकी पढ़ाई-लिखाई और आपस के झगड़े, सभी उनके सामने होते और अपने आनन्दी स्वभाव के कारण उन्हें इस सब में बहुत रस आता था। अपनी पहली बेटी के जन्म के बाद वे लिख ही चुकी थीं कि,

मैं भी उसके साथ खेलती
खाती हूं, तुतलाती हूं।
मिल कर उसके साथ स्वयं
मैं भी बच्ची बन जाती हूं।

या फिर :

कृष्ण चन्द्र की क्रीड़ाओं का
अपने आँगन में देखो
कौशल्या के मातृ मोद को
अपने ही मन में लेखो।

और अब वही बाल-गोपाल उनके आंगन में खेल रहे थे, अपनी मां से मान-मनुहार और लड़ाई-झगड़ा कर रहे थे और उनकी मां कभी सचमुच सशरीर और कभी मनसा हर समय, हर काम में अपने बच्चों के साथ थीं, और उनकी बाल-लीलाओं में अपने बचपन को फिर से जी रही थी। वह आंसू-धुली मुस्कान और एक पैसे की पतंग पाकर मगन हो जाने की सरल तृप्ति, जो बचपन का भोलापन ही दे सकता है, उसका नित्य-नूतन रूप अपने बच्चों के माध्यम से उनको मिल रहा था। बच्चों की नादान समझदारी कितनी आह्लादकारी हो सकती है, यह तो बच्चों के साथ रहने वाला ही जानता है। अपनी ही बातें, जो कभी गंभीरता से बच्चों से कही गयी होंगी, उन्हें पलट कर बच्चों द्वारा अपने लिये कहे जाने पर वे किसी बहुत बढ़िया मज़ाक से भी अधिक हंसाने वाली और गुदगुदाने वाली लगती हैं, इसे वे सभी सौभाग्यशाली जानते होंगे जिन्हें बच्चों का साथ मिला है।

चाहे कितना ही छोटा घर हो और घर में चाहे कितने ही ज़्यादा आदमी रहते हों, रचनात्मक लेखन के लिये कुछ थोड़ी-सी शान्ति, कुछ एकान्त तो चाहिए ही। सुभद्रा का छोटा-सा घर था, पांच बच्चे थे, पति-पत्नी दोनों ही मिलनसार स्वभाव के थे और सार्वजनिक कार्यकर्ता थे, और साहित्य और राजनीति में दोनों सक्रिय रुचि रखते थे। इतनी विघ्न-बाधाओं की दुर्लंघ्य खाइयां और पहाड़ लांघकर सुभद्रा जितना भी लिख पायीं, यह उन्होंने कैसे लिखा यह अचरज की बात है!

लेकिन कितनी भी विघ्न-बाधा हो, उनके अन्दर का कवि अभिव्यक्ति के लिये कसमसाता ही होगा, तो कभी कापी-कलम लेकर लिखने बैठती होंगी। बच्चों को यह कई बार समझाया जा चुका होगा कि जब कोई कुछ लिखता-पढ़ता हो, तो उसके पास नहीं जाना चाहिए या उससे बात नहीं करनी चाहिए। लेकिन यह समझाना तो एक तरफ़ रहता होगा, जब दो बच्चे आपस में लड़ पड़ते होंगे, तो मां को मध्यस्थता करने उठना ही पड़ता होगा। या बार-बार खिलौनेवाले की

ललचाने वाली गुहार सुनकर बच्चे अपने आपको नहीं रोक पाते होंगे और मां के पास जाकर पैसों की मांग करते होंगे। मां बच्चों को याद दिलाती होंगी कि तुमको बताया था न कि जब कोई लिखता हो तो उसके पास नहीं जाना चाहिए।

अब उसी बच्चे ने स्कूल जाना शुरू किया है। और नये-नये उत्साह में स्कूल से लौटकर खाना-खेलना भूलकर, फिर से बस्ता लेकर पढ़ने बैठ गया है। अब बाजी पलट गयी है। मां बच्चे के पास आकर उसे उठने को कहती है, और बच्चा धीर-गंभीर मुख-मुद्रा से मां से कहता है :

तुम लिखती हो, हम आते हैं
तब तुम होती हो नाराज़
मैं भी तो लिखने बैठा हूं
कैसे बोल रही हो आज
क्या तुम भूल गयीं मां
पढ़ते समय दूर रहना चहिए
लिखते समय किसी से कोई
बात नहीं कहना चहिए।

इस उपदेश को सुनकर अपनी हंसी छिपाकर चुप रह जाने के सिवा मां के सामने दूसरा कोई विकल्प नहीं रहता। किन्तु, कवि-मां का वह आह्लाद बच्चों की कविता के रूप में स्थायी हो गया।

मां-बाप दोनों ही कांग्रेस की सभाओं में जाया करते थे और भाषण देते थे। कभी-कभी उनके बच्चे भी उनके साथ चले जाते थे। बच्चों के खेल जैसे चोर-सिपाही, राजा-रानी के साथ-साथ सुभद्रा के बच्चों के खेलों में एक नया खेल और जुड़ गया—सभा का खेल। पिता के कचहरी चले जाने पर, उनके दफ़्तर की मेज़ सभा मंच बन जाती थी और खाली दफ़्तर सभा का मैदान। गर्मी की छुट्टियों में पास-पड़ोस के बच्चे भी आ जाते थे और उन्हीं बच्चों में से गांधी, नेहरू, सरोजिनी, पुलिसवाले, सभी निकल आते थे, फिर खेल ज़ोरों में जमता था। गांधी जी चरखा चलाने को कहते थे, नेहरू जी खद्दर पहनने पर ज़ोर देते थे और सरोजिनी स्वदेशी वस्तुओं के व्यवहार पर। लेकिन वह बड़ी ऊंचे आदर्शों वाली सभा, जिसमें पुलिस वाले लाठी चार्ज के लिये तैयार रहते थे, (और सबको मालूम था कि खेल में झूठ-मूठ की मार पड़ने वाली है) वह था तो बच्चों का ही खेल और मां की ममता ही इस बच्चों के खेल की परिणति के उस विनोद को देख सकती थी, जो सिनेमा और केक-मिठाई की लालच में पल-भर में सभा को फ़ुर्र कर देता है। पिता को कचहरी से लौट आया देखकर नेहरू मंच छोड़कर भागा कि उनके साथ सिनेमा जायेंगे।

घर-गृहस्थी में आपस के सम्बन्धों की छोटी-छोटी चुटकियां भी इन कविताओं

में बिखरी मिल जाती हैं। बच्चे अपने पिता को काका कहते थे। पानी ज़ोर-ज़ोर से बरस रहा था। बच्चा अपनी मां से पूछता है कि अभी-अभी तो धूप थी, ये पानी कहां से बरसने लगा, क्या किसी ने शैतानी से बादल का घड़ा फोड़ दिया है? और सूरज अभी से अपने घर क्यों चला गया, क्या उसकी मां ने उसे पुकारकर बुला लिया है? या यह कि,

ज़ोर ज़ोर से गरज रहे हैं
बादल हैं किसके काका
किसको डांट रहे है किसने
कहना नहीं सुना मां का।

बच्चों के खेल-कूद को देखते-देखते कवि-मन की अपनी कल्पनायें भी जाग उठती होंगी? अपने बचपन की स्मृतियां, समय के अन्तराल के कारण एक वायवी रहस्यात्मकता और कल्पना के साथ मिलकर एक जादुई मायालोक की सृष्टि कर देती हैं। अपनी 'कदम्ब का पेड़' नामक कविता में वे लिखती हैं:

मां कदम्ब का पेड़ अगर ये
होता जमुना तीरे
मैं भी इस पर बैठ कन्हैया
बनता धीरे धीरे
ले देतीं यदि मुझे बांसुरी तुम
दो पैसे वाली
किसी तरह नीची हो जाती यह
कदम्ब की डाली

इसी तरह मां-बेटे की बातचीत और लुका-छिपी का खेल चलता रहता है, कवि मन की कल्पना और यथार्थ का मोहक धूप छांही खेल।

बच्चों के साहित्य में कल्पना की कितनी ही ऊंची उड़ान हो, लेकिन पंतग की डोर के समान उसकी पकड़ यथार्थ में होनी चाहिये। उस यथार्थ के अनेक स्तर हो सकते हैं। वह बच्चे की मन में दबी-छिपी किसी आकांक्षा का यथार्थ हो सकता है, जो कविता-कहानी में परियों या राजकुमार-राजकुमारी के माध्यम से अभिव्यक्ति पाकर उसके मन को संतुष्ट कर देता है, उसे गुदगुदा कर हंसा देता है। राजकुमार जब बड़े-से भयानक राक्षस को युद्ध में हरा देता है, तो कहीं बच्चे के मन में यह विश्वास जम जाता होगा, कि कभी वह भी राजकुमार के समान ऐसे लोगों से बदला ले सकता है, जिन्होंने उसकी समझ में, उसके साथ अन्याय किया है। वह यथार्थ बच्चे के नन्हे-से जीवन की किसी अनुभूति का हो सकता है जिसकी याद उसकी कोमल स्मृति में टंकी रह गयी हो। अक्सर बच्चे को यह शिकायत

रहती है कि घर भर में बस वही ऐसा है जिसे डांट पड़ती है, या जिसे कोई प्यार नहीं करता। उसकी समझ की यह नादानी, उसके बचपन में उसके लिये तो सच होती है। और वह इसके विरोध में गुस्सा होता है, अपने व्यवहार में आक्रामक भी होता है। उसके विरोध की आक्रामकता का यह यथार्थ जब उसे किसी कविता या कहानी में मिल जाता है, तब उसे वह बार-बार पढ़कर या सुन कर भी तृप्त नहीं होता। वह कविता या कहानी उसे अपने मन की बात कहती लगती है।

इससे बिलकुल विपरीत वह साहित्य होता है, जिसमें उसे उपदेश या किसी सीख की गंध मिलती है। वह उससे दूर भागता है। वह नहीं चाहता कि कोई उसे बताये कि अच्छे बालक कैसे होते हैं या सबेरे से उठकर उसे कौन-कौन से काम करने चाहियें? पाठ्य पुस्तकों में इन चीजों को वह भले ही पढ़ ले, परन्तु यदि उसकी इच्छा पर छोड़ा जाये तो वह ऐसी चीजों के पास नहीं फटकेगा।

सौभाग्य से सुभद्रा को अपने बच्चों का साथ मिला था—साथ ही, अपने स्नेही स्वभाव के कारण वे पास-पड़ोस के बच्चों से भी घिरी रहती थीं। पड़ोस के सब बच्चे उन्हीं के घर खेलने को इकट्ठे होते थे। क्योंकि वहां उन्हें खेलने की, दौड़ने-भागने की पूरी स्वाधीनता थी। और इस अर्थ में भी वे भाग्यशाली थीं कि उनके मन के कैशोर्य ने कभी उनका साथ नहीं छोड़ा था, पद और उम्र की गरिमा के नीचे दबकर उसने दम नहीं तोड़ दिया था। तभी तो वे अपनी बेटी पर कविता लिखते समय लिख सकीं कि,

मिल कर उसके साथ स्वयं
मैं भी बच्ची बन जाती हूं।

और ऐसी ही मनःस्थिति में उन्होंने बच्चों के लिये कवितायें लिखी थीं। इसीलिये उनकी बच्चोंवाली कविताओं में बच्चे जैसी ताज़गी, बच्चे जैसा खिलंडरापन और बच्चे जैसा ही चिदानन्द भाव है। इस दृष्टि से उनकी बच्चों की कवितायें अनूठी हैं।

७

महत्वाकांक्षा और प्रतियोगिता, सदा से आदमी की प्रगति के महत्वपूर्ण प्रेरक कारण रहे हैं। जीवन के सभी क्षेत्रों में एक ही पेशे के आदमियों में प्रतिस्पर्धा होती है। साहित्य का क्षेत्र इससे अछूता नहीं है। पदोन्नति या धनप्राप्ति जैसा तत्काल फल देने वाली प्रतियोगिता साहित्य में नहीं है, तो भी यश की कामना तो हर लिखने वाले के मन में होती है। और अपने से अधिक भाग्यशाली समानधर्मा व्यक्ति के लिये मन में ईर्ष्या भी होती है, इसमें अस्वाभाविक कुछ भी नहीं है। लेकिन कुछ लोग इस क्षेत्र में भी विशेष होते हैं, भाग्य के चहेते होते हैं।

जिस समय सुभद्रा ने लिखना शुरू किया था उस समय हिन्दी संसार में दो लेखिकाओं की ख्याति अधिक थी, एक वे स्वयं और दूसरी महादेवी वर्मा। बचपन में, इलाहाबाद में, स्कूल में पढ़ते समय भी दोनों का कुछ समय तक साथ था। दोनों अलग-अलग कक्षा में पढ़ती थीं। सुभद्रा अधिक चंचल स्वभाव की थीं, उन्हें पता लगा कि यह चुप-सी रहनेवाली लड़की भी कविता लिखती है, तो उन्होंने सारे हॉस्टल को महादेवी की कविता की कापी दिखा दी और उनके संकोच को अपने उन्मुक्त स्वभाव से जबरन दूर कर दिया। लेकिन बचपन का लिखना-पढ़ना, तो बाकी अन्य कामों के समान खिलवाड़ ही था, और इस खेल में दोनों एक-दूसरे की सहेली थीं, उनमें प्रतिद्वन्द्विता तनिक भी नहीं थी। फिर सुभद्रा की शादी हो गयी, असहयोग की पुकार पर उन्होंने पढ़ाई छोड़ दी, और तन-मन से कर्मक्षेत्र में कूद पड़ीं, महादेवी की पढ़ाई अबाध चलती रही। उन्होंने स्कूल की पढ़ाई पूरी की, विश्वविद्यालय की शिक्षा पूरी की, फिर स्वयं स्त्री शिक्षा के क्षेत्र में बहुत काम किया और साथ ही कविता के क्षेत्र में भी बहुत नाम कमाया। छायावादी कवियों में उनका प्रमुख स्थान है। सुभद्रा की कविता स्त्रोतस्विनी, उनके बहु-आयामी जीवन, जिसमें घर-गृहस्थी, बच्चे, राजनैतिक और सामाजिक कार्य, परिवार, परिजन, सभी कुछ था, उनमें खंड-खंड विभक्त होकर फिर कभी कविता के रूप में, कभी कहानी के रूप में, कभी बच्चों की कविता के रूप में अभिव्यक्ति पाती रही। लेकिन उसकी अविच्छिन्न धारा, जो प्रारम्भ में थी वह फिर नहीं लौटी; बिखरी ही रही। उन्होंने कहानियां लिखीं, बच्चों के लिये बहुत ही सुन्दर कवितायें लिखीं,

लेकिन यह लेखन जीवन की मूल धारा के पड़ाव जैसे थे, यह पहले जैसा जीवन धारा के साथ समगति से चलने वाला लेखन नहीं था। महादेवी की एकान्त साधना कविता में और स्त्री-शिक्षा के क्षेत्र में पल्लवित-पुष्पित हुई। कविता के क्षेत्र में उनका स्थान बहुत ऊंचा है, अपने समकालीनों में बड़े सम्मान का स्थान है, परन्तु सुभद्रा और महादेवी की मैत्री तो जैसी निर्मल पहले थी वैसी ही सदा रही आयी। वे लोग जब आपस में मिलती थीं, उनका लेखिका या सामाजिक कार्यकर्ता का रूप इस चिरन्तन सखीत्व के आगे दुबक-सा जाता था। फिर तो दो समवयस्का स्त्रियां साथ में बैठ-कर साड़ियों की चर्चा करती थीं, आपस में चूड़ियों का आदान-प्रदान होता था, एक-दूसरे के हाथ की पकी चीजें खाई जाती थीं, सराही जाती थीं। दोनों साथ-साथ बाजार जातीं कि गांधी आश्रम से खोज कर दोनों एक-सी साड़ियां ले आयें। और जब कभी किसी कवि-सम्मेलन या सभा में दोनों को साथ-साथ जाना होता था, तो आपस में पहले से यह तय हो जाता था कि यदि कभी कोई हंसी की बात होगी, तो वे एक-दूसरे की तरफ देखेंगी नहीं। आंखें मिलने पर तो खिलखिलाहट रोकना मुश्किल हो जायेगा और सार्वजनिक स्थान में ऐसा अनाचार ठीक नहीं। उनकी यह मैत्री सदा ऐसी ही निर्मल रही आयी। महादेवी जबलपुर कम ही जा पाती थीं। सुभद्रा का साल में इलाहाबाद का एकाध चक्कर लग ही जाता था। वे कहीं भी आती-जाती हों रास्ते में यदि इलाहाबाद पड़ता, तो चाहे एक ही दिन के लिये ही वहां उतर जाती थीं। वे सीधे महादेवी के घर पहुंच जातीं, चाहे वे घर में हों, या कालेज में इससे कोई फ़रक नहीं पड़ता था। वे अपना सामान रख कर इतमीनान से बैठ जातीं और महादेवी के लिये जो भी छोटे-मोटे उपहार लाई होतीं, उन्हें निकाल लेतीं। तब तक महादेवी को भी इस, शब्दार्थ में भी सही, अतिथि की सूचना मिल जाती थी और वे आकर देखतीं कि सुभद्रा अपनी गृहस्थी फैलाये इतमीनान से भगतिन (उनकी नौकरानी) से बातचीत कर रही हैं। यह आत्मीय घरेलूपन जहां महादेवी के अन्तर्मन को स्नेह से भिगो देता था, वहां सुभद्रा के लिये वह नितान्त सहज था। सम्बन्धों के इस आत्मीय सहज स्तर के सिवा दूसरा कुछ उन्होंने जाना ही नहीं।

घर में आये मेहमान को यदि वे चौक में बैठा कर चाय और उसके साथ जो भी रूखा-सूखा हो वह सहज भाव से दे सकती थीं, तो उतने ही सहज, निस्संकोच भाव से वे किसी सम्मानित अतिथि के सामने घर के अन्य काम भी कर सकती थीं। उनके घर का आंगन कच्चा था, जिसे बीच-बीच में लीपना जरूरी होता था। एक बार महादेवी जबलपुर आयीं, सबेरे-सबेरे सुभद्रा ने उनसे कहा, "महादेवी तुम जरा बैठो, मैं जल्दी से आंगन लीप लूं।" महादेवी भी गृहस्थ की बेटी थीं, बोलीं, "तुम अकेले क्यों लीपोगी, एक तरफ से तुम शुरू करो, दूसरी तरफ से मैं, देखें कौन ज्यादा अच्छा और जल्दी लीपता है!" दोनों दत्तचित्त होकर अपना काम करने

लगीं। जबलपुर के साहित्यिक समाज में यह समाचार फैल गया था कि महादेवी जी आई हुई हैं। सुबह-सुबह दल बांधकर वे सुभद्रा के घर पहुंचे, देखा कि छायावाद के रहस्यमय कोमल गीतों की गायिका महादेवी और मुर्दे में प्राण फूंक दे ऐसी ओजस्वी कविता की लेखिका सुभद्रा दोनों पूरे मन-प्राण से आंगन लीप रही हैं।

मन का आपा खो देने से हरि मिल जाते हैं, ऐसा कबीरदास कह गये हैं। कोई-कोई सन्त या सिद्ध ही मन का आपा खो देने की स्थिति को पा सकते होंगे, हरि को पा लेना कोई आसान बात तो नहीं है। परन्तु अपने नित्य के जीवन में, जीवन के प्रतिदिन के साधारण आचरण में अपने को भूलकर सहज सामान्य बने रह सकना, यह भी एक प्रकार की सिद्धि ही है, और यह सिद्धि हरिकृपा से ही किसी-किसी को प्राप्त होती होगी।

दादा माखनलाल चतुर्वेदी की तो वे मुंहबोली बहिन ही थीं। लक्ष्मण सिंह पहले दादा के शिष्य थे, फिर साप्ताहिक कर्मवीर के सम्पादन में उनके सहयोगी बने। विवाह के बाद पहली बार लक्ष्मण सिंह और सुभद्रा की गृहस्थी कर्मवीर कार्यालय, रानी सिमरिया की कोठी में जमी। एक समय की बात है, एक वयस्क सज्जन कर्मवीर कार्यालय में आये। माखनलाल जी और लक्ष्मण सिंह को वे पहले से ही जानते थे। सुभद्रा को वहां उन्होंने पहली बार देखा और पूछा ये कौन हैं? लक्ष्मण सिंह ने तत्काल उनका परिचय दिया कि यह पंडित जी की बहन है। शायद अपनी पत्नी कहकर परिचय देते हुए शरम लगी हो। दादा की तीन बहनें पहले से थीं, सुभद्रा चौथी बहन बन गयीं। और फिर इस सम्बन्ध को दोनों ने आजीवन निभाया। इतनी आपा-धापी और होड़ की दुनियां में एक ही क्षेत्र में काम करनेवालों का स्नेह सम्बन्ध मधुर बना रहे, यह उनके हृदय की निर्मल उदारता का, उनके अक्षय कृतिकार मन का परिचायक है। पदोन्मुख राजनीति की दौड़ में माखनलाल जी भी पिछड़ गये और यह दम्पति भी पीछे छूट गये। यह सर्वविदित है कि मध्य प्रदेश में राष्ट्रीय चेतना जगाने में कर्मवीर का कितना महत्वपूर्ण योगदान था। या कि नागपुर में होने वाले, देशव्यापी आन्दोलन के प्रतीक, झंडा सत्याग्रह में माखनलाल जी कप्तान चुने गये थे, लेकिन तब वह संघर्ष की राजनीति थी, त्याग और सेवा की राजनीति थी, देने की राजनीति थी, पाने की राजनीति तो बाद में आयी।

सुभद्रा का साहित्यिक परिवार बहुत बड़ा था। इसका कारण यह हो सकता है कि उस समय साहित्य और देश-भक्ति एक दूसरे के पूरक थे, साहित्य देश-प्रेम का माध्यम था और देश-प्रेम साहित्य सृजन का कारण बन जाता था। शायद इसीलिये उस समय के साहित्यकारों का नाता अनेक स्तर पर जुड़कर अत्यन्त सघन और सुदृढ़ हो जाता था। गणेश शंकर विद्यार्थी के दैनिक पत्र 'प्रताप' के माध्यम

से लक्ष्मणसिंह और बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' एक-दूसरे के निकट आ चुके थे और मित्र थे। जब अपने विवाह के बाद लक्ष्मण सिंह ने नवीन जी से सुभद्रा का परिचय कराया, तो वे बड़े धर्म संकट में पड़े। लक्ष्मण सिंह तो उनके लिये लक्ष्मण थे, परन्तु इस दुबली-पतली किशोरी को वे भाभी के गौरवमय पद पर कैसे बिठाते? एका-एक उन्हें राह सूझ गयी, उनका रिश्ता तो शाश्वत था, युगों पुराना, वे बालकृष्ण थे और ये सुभद्रा थीं, छोटी बहन और तब से वे उनकी बिन्नो रानी हो गयीं। और फिर बरसों बाद, मां और नानी बन जाने के बाद भी वे नवीन जी के लिये बिन्नो रानी ही रही आयीं। सन् १९४५ में सुभद्रा किसी साहित्यिक उत्सव में झांसी गयी थीं। वहां सीढ़ी से गिरने के कारण उनका हाथ टूट गया। उनके भैया ने उन्हें चिट्ठी लिखी:

प्रताप, कानपुर
२५-१२-४५

मेरी बिन्नो रानी,

तुम आजकल बहुत ऊधम जोते हो। क्यों इधर-उधर घूमा करती हो? झांसी में हाथ ही तोड़ लिया। वाह री पगली। मैं कहता हूं, बहुत अधिक प्रवास मत किया करो। कृष्ण-सुभद्रा में चिर-यौवन तो कृष्ण को ही मिला था। सुभद्रा तो बूढ़ी हुई ही थी।

सो तुम भी बुढ़ाय रही हो, मेरी चुनमुन। अतः अब घर में ही रहना ठीक है।—

सदैव तुम्हारा
बालकृष्ण

बड़े भाई का यह प्यार-दुलार बरसों पत्र-व्यवहार तक न होने पर भी वैसा ही अक्षुण्ण बना रहता था। सन् ४६-४७ की बात है, सुभद्रा अपने किसी काम से कानपुर गयी थीं और प्रताप प्रेस में नवीन जी के ही पास ठहरी थीं। दोपहर को वे सो रही थीं, बिजली किसी समय चली गयी और पंखा बन्द हो गया, पर उन्हें पता नहीं चला। जब उनकी नींद खुली तो देखा कि नवीन जी पास में बैठे हाथ का पंखा झल रहे हैं। यह नहीं कि स्नेह सम्बन्ध आज नहीं होते। परन्तु स्नेह-सम्बन्ध को निभाने की कला, उसकी निर्मल शीतलता को दुनियादारी की आंच से बचाये रखने की मनोकामना पहले के लोगों में शायद बहुत अधिक होती थी।

जबलपुर का तो हर लिखने वाला, बड़ा हो या छोटा, बहुत नामवाला हो या अनाम, सभी उनके बन्धु थे, वे सब की जीजी थीं और सभी अपनेपन के अधिकार भाव से उनके घर आते थे। लिखने-पढ़ने की समानधर्मिता तो एक अतिरिक्त

कारण होती थी, असल सम्बन्ध का आधार था वह मानवीय धरातल जहां एक अत्यन्त स्नेही, सरल, निश्छल स्त्री, उन्मुक्त भाव से सबको स्नेह देती थी, जो सब के दुःख में, सुख में उनके साथ थी। एक बार वे बाजार जा रही थीं, रास्ते में एक सज्जन मिले, जिनसे काफ़ी दिन बाद मुलाकात हुई थी। दोनों बिना किसी ताने-उलहाने के बातें करते रहे। उन सज्जन ने सुभद्रा से माफ़ी मांगी कि बहुत दिनों से, इच्छा होते हुए भी, वे उनके घर नहीं आ पाये। सुभद्रा बोल उठीं कि भाई माफ़ी क्यों मांगते हो, अगर तुम मेरे घर नहीं आ पाये, तो मैं भी तो तुम्हारे घर आ सकती थी, लेकिन देखो नहीं आ पाई। उनका सम्बन्ध छोटे-बड़े का, या मान-अभिमान का नहीं होता था, वह एक बराबरी के स्तर का स्नेह का सम्बन्ध होता था। कोई भी उनसे मिलने आये, थोड़ी ही देर में वह उनके और अपने बीच की दूरी को भूल जाता था। और उनकी बातचीत अनायास ही एक सहज आत्मीय स्तर पर आ जाती थी। कुछ लोगों में मित्रता स्थापित करने का कोई नैसर्गिक गुण होता है। कुछ घंटों का रेल का साथ हो, किसी सभा या मजमे में कुछ देर साथ बैठने को मिल जाये, और उतनी ही देर में उनकी उस मिलने वाले से मित्रता हो जाती थी, और वह उनसे अपना सुख-दुःख कह डालता था। रिक्शे में बैठकर वह घर से बाजार तक जाती थीं और उतनी देर में उस रिक्शेवाले के घर-परिवार की बातें जान लेती थीं।

नौजवान कवि सहमते, सकुचाते उन्हें अपनी कविता सुनाने आते थे कि पता नहीं सुभद्रा जी के पास उनके लिये समय होगा कि नहीं, परन्तु अपनी घर-गृहस्थी, बाजार-हाट, लिखना-पढ़ना करने के बाद भी उनके पास सब के लिये अवकाश रहता था और वे उस नवागंतुक से इतने आग्रह और इतमीनान से मिलती थीं कि उसे यही लगता था कि अगर वह न आता तो ये बेचारी क्या करतीं ? वह समय ही साहित्य और राजनीति के गंगा-जमुनी संगम का था। झंडा सत्याग्रह के समय नागपुर के असहयोग आश्रम में जैनेन्द्र कुमार भी स्वयंसेवक के रूप में रहते थे। सुभद्रा भी वहीं रहती थीं, परन्तु सुभद्रा के साथ स्वयंसेवक का कार्य क्षेत्र नये-नये आयाम पा जाता था। अपने बहुरंगी और जीवन्त व्यक्तित्व के कारण उनके जीवन में अपरिग्रह और आसक्ति का अजीब संयोग था। वे असहयोग आश्रम में रहती तो थीं, परन्तु यदि सिनेमा देखने का सुयोग जुट जाये, तो वे उसका परित्याग कभी नहीं कर सकती थीं। बस, इस मामले में उनके साथ उनके जीवन सहचर का परम असहयोग था। वे अकेली सिनेमा देखने कैसे जायें ? तो नवयुवक स्वयं-सेवक जैनेन्द्र कुमार को उन्हें सिनेमा दिखा लाने की सेवा भी करनी पड़ती थी।

इलाहाबाद आते-जाते, महादेवी के घर बहुधा निराला से भी मुलाकात हो जाती थी। दुनिया की दृष्टि से विक्षिप्त, फक्कड़ निराला की आंखें मन की निश्छलता को सहज पहचान लेती थीं और सुभद्रा के अन्तर्मन में बैठी मां ने इस

लम्बे-चौड़े भव्य पुरुष के अन्दर छिपे शिशु को फौरन पहचान लिया था। इस कारण इस कभी-कभार की मुलाकात के बाद भी इन दोनों के मन में एक-दूसरे के लिये स्नेह और आदर का भाव था। सुभद्रा की अन्तर्दृष्टि ने उस वत्सलममता के अभाव में बिखर गये पुरुष को पहचान लिया था। बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय में निराला की जयन्ती मनाई गयी थी। सुभद्रा भी उसमें आमंत्रित थीं। बनारस में उनकी बेटी सुधा की ससुराल थी और वहां उन्हें अपना नन्हा-सा नाती भी मिलने वाला था, जिसके लिये कि वे कहा करती थीं कि ये मेरा कन्हैया है और मैं इसकी राधा हूं। इतने सारे आकर्षणों के कारण अपने खराब स्वास्थ्य के बाद भी वे बनारस आयीं। उत्सव समारोह में छोटे बच्चे के कारण सुधा नहीं गयी, वे अकेली ही गयीं। लौटकर उसे वहां का हाल बताते हुए बोलीं कि उन लोगों ने निराला को दूल्हे-सा सजा दिया है, रेशमी कुरता, बढ़िया धोती और क़ीमती उत्तरीय। इससे तो अच्छा होता उन्हें चार-छः जोड़ी कपड़े बनवा देते, जो कुछ दिन उनके काम आते। हो सकता है कल ही ये कपड़े उतार कर किसी को दे दें। उसके दूसरे दिन दोनों मां-बेटी छत पर खड़ी थीं; देखा नीचे सड़क पर निराला चले जा रहे हैं—पैर में चप्पल नहीं थी, उत्तरीय भी न जाने कहां छूट गया था, बदन पर का कुरता-धोती, जब से पहना था, उतारा नहीं गया था, सिकुड़ा हुआ-सा अस्तव्यस्त, और पता नहीं वह भी कितने दिन उनके साथ रहा हो।

स्नेह के इस अविच्छिन गजरे में से कुछ थोड़े-से फूल मैंने चुने हैं। उस गजरे में सुगन्धित गुलाब हैं, रंगों की छटा बिखेरने वाले सजीले फूल हैं, शीतल चांदनी-से शुभ्र बेला-चमेली हैं और प्रकृति की छवि पूरी करने को हरी-हरी पत्तियां भी हैं और इन सभी को एक डोर में पिरोनेवाली स्नेह की रज्जु भी है। और इस डोर में गांठ लगाकर गजरे को जैसे पूर्ण बनाने का निमित्त बन गया उनकी अपनी बेटी का विवाह।

सन् १९४२ के भारत छोड़ो आन्दोलन में सुभद्रा और लक्ष्मण सिंह दोनों गिरफ़्तार हो गये थे। जेल में ही सुभद्रा का स्वास्थ्य बहुत बिगड़ गया और करीब ९-१० महीने पश्चात् उन्हें अस्पताल में भरती करके, उनके आपरेशन की तारीख तय करने के बाद उन्हें मुक्त कर दिया गया। सुभद्रा जेल से तो मुक्त हुई, लेकिन जर्जर स्वास्थ्य के एक-दूसरे बन्दीगृह में कैद हो गयीं। लक्ष्मण सिंह अभी भी सुदूर दक्षिण में वैलोर जेल में बन्दी थे। तभी सन् ४४ में सागर से लौटते हुए अमृतराय जबलपुर आये। सुभद्रा अपने जर्जर स्वास्थ्य, बन्दी पति और अनिश्चित भविष्य के कारण अपनी बेटी के विवाह के लिये स्वाभाविक था कि चिन्तित थीं। तभी संयोगवशात् अमृत ने उनके सामने सुधा से विवाह के लिये प्रस्ताव रखा। बेटी के विवाह की चिन्ता अपनी जगह थी यह बात सही है, तो भी सुभद्रा के लिये यह बहुत बड़ा निर्णय था, विशेषकर उस समय जब उनके पति जेल में थे और

इसका सारा उत्तरदायित्व उन्हीं पर आने वाला था। कुछ दिनों के आत्ममंथन के बाद उन्होंने इस विवाह के लिये अपनी स्वीकृति दे दी। दैवयोग से इसके कुछ दिन बाद ही सुधा की बीमारी के कारण लक्ष्मण सिंह दस दिन के पैरोल पर छूटकर घर आये। इस बीच उनकी अमृत से मुलाकात हुई और उन्होंने भी इस सम्बन्ध के लिये अपनी सहमति दे दी। आज से करीब ३५ साल पहले इस तरह का अन्तर्जातीय विवाह, विशेषकर सामाजिक विधि-निषेधों से जकड़े हुए मध्यवित्त परिवार के लिये, बहुत बड़ा क्रान्तिकारी कदम था। लेकिन एक बार निश्चय कर लेने के बाद सुभद्रा को कोई भी धमकी या आतंक उससे डिगा नहीं सकता था। परिवार के कुछ सदस्य शादी में शरीक़ हुए, कुछ नहीं। लक्ष्मण सिंह ने जेल से दो कच्चे सूत की मालाओं के रूप में अपने आशीर्वाद भेज दिये। लेकिन इस विवाह में उत्साह से सहयोग देने वालों की कमी नहीं थी। सुभद्रा कुमारी चौहान की बेटी का विवाह प्रेमचन्द के बेटे से हो रहा था। लेखकों में अधिकांश घराती भी थे और बराती भी थे। कितनों का ही दोनों घरों से आत्मीय सम्बन्ध था। तीन साल से घर का कर्ताधर्ता पुरुष जेल में था। जब बाहर भी था, तो वकालत की आकाशवृत्ति का ही एकमात्र सहारा था। ऐसे में अकिंचन सुभद्रा की बेटी का विवाह सादगी और सुरुचि के साथ सम्पन्न हो गया, बिना किसी विघ्न-बाधा के, क्योंकि वर पक्ष के यहां भी कथनी और करनी में भेद न था। वे लोग बिना किसी तरह की मांग के, यहां तक कि स्वागत-सत्कार और सुविधाओं तक की अपेक्षा न करके, वधू को स्नेह और आदर के साथ अपने घर ले गये।

यह कथनी और करनी में भेद न करने का गुण सुभद्रा के दैनन्दिन आचरण में भी प्रतिबिम्बित होता था। गांधी जी के हरिजनोद्धार के कार्यक्रम को कांग्रेस ने स्वीकार किया था, पर कितने प्रतिशत कांग्रेसी छाती पर हाथ धरकर कह सकते हैं कि जात-पांत, और छुआछूत को उन्होंने अपने दिल से, और उससे भी अधिक समाज-प्रभावी रूप, अपने आचरण से, निकाल दिया है। वही आदमी जो सभा-मंच से जात-पांत का विरोध करता है और इस वर्ग-विभेद से उत्पन्न देश की दुर्दशा का रोना रोता है, अछूतों की दीन-दशा पर आठ-आठ आंसू बहाता है, वही अपने घर का चौका-चूल्हा घेरा खींचकर अस्पृश्य और सुरक्षित रखता है और अपने बेटे-बेटी के ब्याह में इतर पक्ष के चार पुश्तों का लेखा-जोखा मिलाकर, ठोक-बजाकर, तब कोई निर्णय लेता है। लेकिन, उन्हीं कांग्रेसियों में कुछ ऐसे भी थे जो कि जब इन मान्यताओं को आचरण की कसौटी पर कसने का समय आता था तब उस पर खरे उतरते थे।

छुआछूत की भावना सुभद्रा के मन में एकदम नहीं थी। जबलपुर में मेहतरों की हड़ताल हुई। यह बात बिल्कुल अलग है कि उस समय प्रान्त में कांग्रेस की सरकार थी और सुभद्रा विधान सभा की कांग्रेसी सदस्या थीं। सुभद्रा की सहानुभूति मेहतरों के साथ थी, क्योंकि उनकी समझ में मेहतरों की मांग न्यायपूर्ण थी और सरकार ने उस मांग को न मानकर उन पर अत्याचार किया था। सुभद्रा की राजनीति का उत्स भी उनके साहित्य के समान हृदय ही था। इसलिये इस हड़ताल में उनकी सारी सहानुभूति मेहतरों के साथ थी और जब सहानुभूति थी, तो उसमें छिपाना क्या? पुलिस हड़ताली मेहतरों को गिरफ्तार कर रही थी, और इस गिरफ्तारी के सिलसिले में डंडे का आतंक जमाने को उनके हंडिया-पुरवा फोड़ रही थी, उनकी झोपड़ियों को धराशायी कर रही थी। सुभद्रा उन डरे-सहमे स्त्री-बच्चों और बूढ़ों के पास जाती थीं, उनकी हिम्मत बढ़ाती थीं और साथ में उनकी दुःख-कथा सुनकर रो भी लेती थीं। और जब उनके घर में बैठकर उनका सुख-दुःख सुनती थीं, तो उस समय मेहमान की खातिरदारी में पेश किये गये पीतल के गिलास की चाय भी निस्संकोच पी लेती थीं।

छुआछूत को सच्चे मन से न मानने की, उसे दिल से निकाल बाहर करने की असली कसौटी व्यक्ति का आचरण है। सच तो यह है कि किसी भी नीति या मान्यता की सही कसौटी आचरण ही होता है। मुझे इस प्रसंग में महाभारत की एक कहानी याद आ रही है। गुरु द्रोणाचार्य के यहां राजकुमार कौरवों और पांडवों की शिक्षा का पहला दिन था। गुरु ने पहला पाठ पढ़ाया—सदा सच बोलो। इतना छोटा-सा पाठ था, बच्चों को इसे याद करने में कुछ लगा ही नहीं। दूसरे दिन गुरु ने शिष्यों से पूछा, तुम लोगों ने कल का पाठ याद कर लिया। सबने समवेत स्वर में हामी भरी। बस एक युधिष्ठिर ने कहा कि गुरु जी अभी मुझे पाठ ठीक से याद नहीं हुआ। एक के लिये बाकी इतने सारे शिष्यों की शिक्षा तो रुक नहीं सकती थी। गुरु जी ने युधिष्ठिर से कहा कि अच्छा, तुम इसी को याद करो और बाकी शिष्यों को आगे का पाठ पढ़ाया। तीसरे दिन भी वही स्थिति बनी रही, युधिष्ठिर को पहला पाठ ही ठीक से याद नहीं हो पाया था। इसी तरह सात दिन बीत गये। बाकी शिष्य आगे बढ़ते गये और युधिष्ठिर पहले ही पाठ पर अटके रहे। गुरु जी के भी धीरज की सीमा समाप्त हो गयी। उन्होंने युधिष्ठिर को बुलाया और गुस्से में बोले कि इतना छोटा-सा पाठ है और तुम उसे इतने दिनों तक याद नहीं कर पाये। बेचारे लज्जित युधिष्ठिर ने सिर झुकाकर कहा—गुरु जी, मेरे मुंह से अभी भी कभी-कभी झूठ निकल जाता है।

गुरु द्रोणाचार्य हतप्रभ-से देखते रह गये अपने इस आचरणनिष्ठ शिष्य को। किसी भी गुरु की शिक्षा ऐसे ही शिष्यों से फलवती और वीर्यवान होती है। परन्तु ऐसे व्यक्ति इस संसार में एक प्रतिशत भी नहीं मिलते, इस कथा के अनुसार, उस पुराकाल में भी एक सौ पांच में से बस एक ही मिला था।

अभी भी किसी नई जगह पहुंचने पर, या रेल-यात्रा में कोई-न-कोई ऐसा जिज्ञासु मिल ही जाता है जो पूछ बैठता है कि आपकी जाति क्या है। सन् १९२० में जब सुभद्रा का सार्वजनिक जीवन शुरू हुआ था, तब ऐसे प्रश्नकर्ताओं की संख्या बहुत बड़ी रही होगी। अपने उत्साह के अतिरेक के कारण सुभद्रा जवाब देतीं कि परमात्मा ने मनुष्य की दो ही जाति बनाई हैं—एक पुरुष और दूसरी स्त्री। नौजवान उम्र में आदमी नारे बड़े जोरों से लगाता है, अपना झंडा गाड़ने को हर समय तैयार रहता है। उम्र बढ़ने के साथ इस मूल जाति विभेद में शायद कुछ लचीलापन आ गया हो, परन्तु यह भी सच है कि इससे इतर उन्होंने दूसरा कोई जाति-विभेद माना भी नहीं, और निश्छल मैत्री से बढ़कर दूसरा कोई सगा-सम्बन्ध भी उनके लिये नहीं के समान था। अपने व्यस्त राजनीतिक जीवन के कारण और अपनी रूढ़ि-विरोधी मान्यताओं और लीक से हटी जीवन-पद्धति के कारण सीमित अर्थों में जो परिवार कहलाता है, उस परिवार से बिलकुल निकट के सम्बन्धियों को छोड़कर उनका सम्बन्ध कट-सा गया था। उनके रहन-सहन, खान-पान में छुआछूत

के लिये जगह नहीं थी। जेल-प्रवास के बाद उनके घर शुद्धि का अनुष्ठान भी नहीं होता था, घर में मुसलमान या अछूत किसी से भेदभाव नहीं किया जाता था, तो ऐसे लोगों से सम्बन्ध बनाये रखना बहुत-से सगे-सम्बन्धियों ने ठीक नहीं समझा। लेकिन इस बात से कुछ बनता-बिगड़ता नहीं। अपने इसी उन्मुक्त स्नेहिल व्यवहार के कारण उनका एक अलग वृहत्तर परिवार बन गया था, जो किसी भी रिश्ते के परिवार से सुख-दु:ख में ज्यादा सगा और सौजन्यपूर्ण था।

एक बार सुभद्रा के घर विधान सभा के एक हरिजन सदस्य आकर ठहरे। वे हाई स्कूल एजूकेशन बोर्ड के भी सदस्य थे। जबलपुर के ही एक स्कूली किताबों के प्रकाशक ने, जो संयोग से ब्राह्मण थे, उन्हें अपने घर भोजन के लिये निमंत्रित किया। वे प्रकाशक महोदय उन हरिजन विधायक का समुचित आदर-सत्कार करना चाहते थे, क्योंकि परोक्ष रूप में वे उनके अन्नदाता भी थे, किन्तु उनका छुआ खाकर वे अपनी जाति नहीं खो सकते थे। अन्त में उनकी बुद्धि ने उपाय निकालही लिया। जमीन पर अलग-अलग पीढ़े बिछाकर खाने का इन्तज़ाम किया गया। थालियां चौके से परोसकर आ गयीं और बीच-बीच में महाराज आकर जो चीज घटी दिखाई देती उसे थाली में डाल जाता था। भूल से भी कभी एक-दूसरे से छू जाने की आशंका नहीं रही। दूसरे दिन की बात है, सुभद्रा के घर महाराजिन काम पर नहीं आई थी। वे चौके में बैठी खाना पका रही थीं और उनके बच्चे वहीं बैठकर खा रहे थे। इतने में वे सज्जन किसी काम से वहां से निकले। सुभद्रा बोलीं—"आओ भाई, गरम-गरम खाना खाना हो, तो तुम भी आ जाओ।" वहीं बच्चों के साथ उनकी भी थाली लगा दी गयी। वे सज्जन खाते-खाते रो पड़े। यत्नसाधित सौहार्द तो उन्हें बहुत मिला था, परन्तु इस सरल आत्मीयता ने उनके मन को कहीं बहुत गहरे छू लिया। उनकी सदियों से प्रताड़ित, अपमानित मानवता द्रवित हो उठी।

सुभद्रा का यह समदृष्टि वाला भाव ऊंच-नीच तक ही सीमित नहीं था। गरीब-अमीर जो भी उनके घर आता समान रूप से आत्मीय सत्कार पाता था। चाय के समय जो भी पहुंच जाता, वह कवि हो, लेखक हो, वकील-डाक्टर हो या बढ़ई-धोबी हो, सबके लिये चाय का गरम प्याला तैयार रहता। वे भीतर के बरामदे में बैठकर चाय बनाती रहतीं, कोई पास में मचिया या पीढ़ा लेकर बैठ जाता, कोट-पतलूनधारी कहीं से एक कुर्सी खींच लाता और कोई दरवाजे की देहरी पर ही बैठकर चाय पी लेता। उनके बच्चों के दोस्त पहुंच जाते, तो मां से मांगकर, घर में जो भी खाने का सामान होता, पा जाते थे। घर की स्वामिनी के खुले हृदय के समान उस घर के कपाट भी सबके लिये खुले हुए थे। वहां वैभव की चकाचौंध या धन-जनित बहुलता नहीं थी, पर जो भी टूटा-फूटा, रूखा-सूखा था वह आत्मीयता के सहज-स्नेह में पगकर अत्यन्त मधुर बन जाता था, इसलिये उस

छोटे-से जर्जर, साज-सामान विहीन घर में सदा, नन्दन-कानन जैसा खुशियों का परिमल व्याप्त रहता था। सुभद्रा ने लिखा भी था :

मैं जिधर निकल जाती हूं
मधुमास उतर आता है
नीरस जन के जीवन में
रस घोल-घोल जाता है।

वे कविता लिखती नहीं, कविता जीती थीं, या यों कहना चाहिए कि वे जो कुछ जीती थीं वही कविता के रूप में ढल जाता था। अलग से उन्होंने न उसमें कुछ मिलाया, न घटाया, अपनी भाव प्रणव अनुभूति को छन्द में बांध दिया।

जबलपुर में गजानन माधव मुक्तिबोध एक प्राइवेट स्कूल में मास्टर बनकर आये। अपने संकोची स्वभाव के कारण वे सुभद्रा के मकान के पास से निकल जाते थे, पर उसी मुहल्ले में रहते हुए भी अन्दर जाने का साहस अपने मन में नहीं जुटा पाते थे। किसी ने सुभद्रा को बताया कि मुक्तिबोध आपके घर आना तो चाहते हैं, पर संकोचवश आ नहीं पाते। वे उसी दिन उनके घर गयीं, उन्हें अपने साथ लिवा लाईं। फिर तो यह आना-जाना रोज का ही हो गया। कैसा भी संकोची या अन्तर्मुखी व्यक्ति हो, सुभद्रा के स्वभाव की पारदर्शिता उसके संकोच के आवरण को अनजाने ही हटा देती थी और फिर वह मैत्री एक समतल धरातल पर प्रस्फुटित होती थी, जिसमें किसी तरह के दुराव-छिपाव का स्थान नहीं होता था।

विपन्नावस्था में बीते बचपन से उत्पन्न संकोच और भीरु मन लेकर नवयुवक कवि नर्मदाप्रसाद खरे सुभद्रा के घर आये। बहुत सहमते-सकुचाते उन्होंने प्रवेश किया, किन्तु जब गये थे तब वे लेखिका सुभद्रा कुमारी चौहान के घर गये थे, पर जब लौटे तब अपनी बहन के घर से लौटे। पितृहीन नर्मदा प्रसाद को उनकी मां ने कितने कष्टों में पाला था और अब वे प्राइमरी स्कूल में नौकरी कर के अपनी मां और छोटे भाई के संरक्षक और परिवार के कर्ताधर्ता थे। यह सब बातें सुभद्रा ने और अन्य बातों के बीच धीरे-धीरे जान लीं और इस कवि के प्रति जो उस समय किशोर ही था, उनके मन में इतना प्यार उमड़ा कि वे उसकी जीजी बन गयीं। और किसी और से उनका राखी बांधने का सम्बन्ध निभा हो या न निभा हो, इस छोटे भाई को राखी बांधने वे स्वयं उसके घर पहुंच जाती थीं।

जबलपुर का तो हर लिखनेवाला उन पर अपना अधिकार समझता था। क्योंकि वह वक्त-बेवक्त उन्हें अपनी कविता सुनाने पहुंच जाता था, फिर कविता सुनने के साथ में चाय तो मिलती ही थी, एक वत्सल स्नेह का मधुर आश्वासन भी मिलता था। उन दिनों जबलपुर में जो कवि, लेखक थे, जैसे भवानी प्रसाद तिवारी, रामेश्वर गुरु, केशव प्रसाद पाठक, राजेश्वर गुरु, गोविन्द तिवारी, रामानुज लाल

श्रीवास्तव आदि उन सबके लिये सुभद्रा का घर अपने घर जैसा ही था। जब कभी मन में तरंग आती, बिना किसी पूर्व सूचना के ये लोग सुभद्रा के घर में इकट्ठे हो जाते, फिर कविता पाठ होता, चाय का दौर चलता, गप्पें होतीं, राजनीति की बातें होतीं परन्तु किसी को कभी यह ध्यान में भी नहीं आता कि उनके आतिथेय को इस अवांछित अतिथि-सत्कार से कोई असुविधा हो रही होगी। क्योंकि सत्य यही था कि ये अनाहूत गोष्ठियां सुभद्रा के लिये अवांछित कभी नहीं थीं, उन्हें अपने बन्धु-बान्धवों से घिरे रहना अच्छा लगता था और जहां तक अतिथि-सत्कार की बात है, वे कहा करती थीं कि अतिथि तो भगवान होता है। वह गृहस्थ बहुत भाग्यवान होता है जिसके यहां अतिथि आते हैं।

सुभद्रा की मित्रता का क्षेत्र समानधर्मा पढ़े-लिखे प्रबुद्ध लोगों तक ही सीमित नहीं था। ऐसी घर-गृहस्थ स्त्रियां जिनके लिये पति, अपनी सन्तान और चौका-चूल्हा ही सब कुछ था, उसके बाहर न उन्होंने कुछ देखा था और न देखना चाहती थीं, उनसे भी उनका सखीभाव हो जाता था। उनके पड़ोस में पुलिस के एक बड़े बाबू रहते थे। वे पुलिस के बड़े बाबू और ये जेल जाने वाले कांग्रेसी, परन्तु उन बड़े बाबू की पत्नी से उनकी बहुत मित्रता थी। बड़े बाबू के कई बच्चे पैदा होने के कुछ दिन बाद मर-मर गये। उनकी पत्नी बहुत दुःखी थीं। उन्होंने सुभद्रा से कहा कि अब उनका जो बच्चा होगा, उसे सुभद्रा मोल ले लें। सुभद्रा ने उसे मोल ले लिया और संयोग की बात कि वह बच्चा तो जिया ही, उसके बाद जो बच्चे पैदा हुए वे भी जिये।

सुभद्रा के पड़ोस में एक संघी नाम का परिवार रहता था। संघी जी की पत्नी सुभद्रा की समवयस्का थीं। उनसे सुभद्रा को इतना स्नेह था कि दिन में एक बार चाहे कुछ मिनिट को ही हो, वे उनसे मिल जरूर लेती थीं। अक्सर रात में टहलने निकलती थीं और पांच-सात मिनिट उनसे मिलकर लौट आतीं। यों घर से बाहर निकले बिना उन्हें शायद चैन भी नहीं पड़ता था। घर की सारी खरीद-फरोख्त तो वही करती थीं। पास-पड़ोस में भी यदि किसी को कुछ मंगवाना हो, तो उनकी सेवा इस काम के लिये सदा प्रस्तुत रहती थी। शायद खर्च करना उन्हें बहुत अच्छा लगता था। अपने घर की सीमित आय में उनका यह शौक कभी पूरा नहीं हो पाया। कभी-कभी अपूर्ण आकांक्षा के बहाव में आकर कुछ निराशा में, कुछ मजाक के स्वर में कहती थीं कि मुझे तो कहीं की रानी होना था। किन्तु जिस तरह का खुला उनका हाथ था, उनका यदि राजपाट भी होता, तो ज्यादा दिन टिक नहीं पाता। अपनी कविता, कहानी लिखने की कापी में, अपनी डायरी में वे बीच-बीच में टांक लिया करती थीं कि अब मैं कपड़ा उधार नहीं खरीदूंगी, बाद में यह प्रतिज्ञा दृढ़तर होती गयी कि अब मैं कपड़ा नकद भी नहीं खरीदूंगी। लेकिन यदि आदमी अपनी सदिच्छाओं को आचरित कर सकता, अपनी प्रतिज्ञाओं

पर दृढ़ रह सकता तो फिर इतना रोता ही क्यों रहता ? कोई कपड़ा बेचनेवाला, बर्तन बेचनेवाला कैसा भी फेरीवाला, एक बार उनके सामने पहुंच भर जाये, फिर वहां से वह बिना बोहनी के कभी नहीं लौटता था।

बाजार जाने के लिये उनको कोई बहाना-भर चाहिए था और बाजार जाने के लिये सबसे अच्छी सवारी रिक्शे की होती थी। रिक्शे पर बैठकर वे कभी पैसा नहीं तय करती थीं और सदा रेट से दो-चार आना ज्यादा ही दे देती थीं। उनके तर्क बुद्धि से नहीं, हृदय से निकलते थे। उनका कहना था कि रिक्शेवाले को दो-चार आना ज्यादा दे देने से मेरा तो कोई नुकसान न होगा परन्तु उसके लिये यही बहुत होगा। उनके पति को रिक्शे की सवारी से आपत्ति थी, वे इसे अमानुषिक समझते थे, परन्तु सुभद्रा का कहना था यदि सब लोग ऐसा ही सोचने लगें तो इतने सारे लोगों की रोज़ी कैसे चलेगी।

जीवन की इतनी गहरी आसक्ति के ही कारण अपने जीवन के दुर्धर्ष संघर्षों से जूझते हुए भी निराशा और दैन्य उनके पास कभी नहीं फटके, और वे यह पंक्तियां लिख सकीं :

जीवन में न निराशा मुझको
कभी रुलाने को आई
जग झूठा है यह विरक्ति भी
नहीं सताने को आई।

नहीं तो क्या ईर्षा के, मत्सर के, लोभ के, छल के, बल के विकृत और बीभत्स रूप उन्होंने अपने जीवन में कुछ कम देखे होंगे ! जब पति-पत्नी दोनों ही अपने जीवन व्यापार में सच्चे और खरे हों, अपनी मान्यताओं के लिये उनमें निर्भय, निर्लोभ दृढ़ता हो तो राजनीति के खेल में ऐसे व्यक्ति आगे नहीं बढ़ सकते। देश के लिये अपने जीवन के श्रेष्ठतम वर्ष उत्सर्ग कर देनेवाले इन पति-पत्नी के लिये, जब उस देश-सेवा का फल पाने का समय आया, तो उनके अधिक चतुर राजनीतिक सहयोगियों ने उन्हें परे धकेल दिया और स्वयं आगे बढ़ गये। अपने न्यायपूर्ण अधिकार से वंचित किये जाने पर क्षोभ होना स्वाभाविक था, परन्तु वह क्षोभ उनके मन पर टिका नहीं और न उन्हें कटु बना पाया।

९

अपने प्रति किये गये अन्याय को आदमी कभी क्षमा करता है और कभी अन-देखा करता है, क्योंकि जीने के लिये उसे कोई सार्थक आधार चाहिए। यदि इन्हीं रगड़ों-झगड़ों में पड़ा रह गया तब तो उसका सारा जीवन ही निरर्थक हो जायेगा। अपने प्रति अन्याय, अवज्ञा आदमी सह सकता है, परन्तु अपने जीवन मूल्यों, अपने आदर्शों की अवमानना सहना बहुत कठिन हो जाता है। अपने जीवन के अन्तिम वर्षों में सुभद्रा इसी मानसिक सन्ताप से व्यथित थीं। जो देश सेवा, देश के लिये किया गया उत्सर्ग, खादी और स्वदेशी का प्रचार उनके लिये जीवन के सत्य थे, वे उनके देखते-देखते ही पदोन्मुख राजनीति के लिये सीढ़ी के पत्थर बन गये। जिस आज़ादी के लिये उन्होंने अपना घर-परिवार, अपने नादान बच्चों की सुरक्षा और लालन-पालन किसी भी बात की पर्वाह नहीं की, वह आज़ादी मिली, तो परन्तु वह खंडित आज़ादी थी, क्योंकि उनका प्यारा देश विभक्त हो चुका था। फिर भी अंग्रेज़ हिन्दुस्तान छोड़कर चले गये थे और वही तिरंगा झंडा, जिसकी सम्मान रक्षा के लिये अठारह-उन्नीस वर्ष की कच्ची उम्र में वे जेल गयी थीं, वही तिरंगा अब उनका राष्ट्रीय झंडा था और उनके मन में खुशी की, उमंग की और विभाजन-जनित दुःख की गंगा-जमुना बह रही थीं। उन्होंने उत्साह से १५ अगस्त के दिन मिठाइयां बांटीं, भेड़ाघाट जाकर वहां खान में काम करने वाले मज़दूरों को कपड़े बांटे। उस दिन वे जबलपुर में ही रही आयीं। कई जगहों से लोगों ने बड़े आग्रह से उन्हें बुलाया, पर पन्द्रह अगस्त को वे अपना कार्यक्षेत्र, अपना शहर जबलपुर कैसे छोड़ सकती थीं, चाहे कितना भी बड़ा प्रलोभन सामने क्यों न हो। प्रलोभनों पर विजय पाने की दीक्षा तो उन्हें अपने संघर्षमय जीवन से निरन्तर मिलती रही थी।

लेकिन लगता है किसी-किसी की भाग्य-रेखा में संघर्ष की रेखायें बड़ी प्रबल होती हैं। ऐसे लोगों का संघर्ष चिता की सेज पर ही समाप्त होता है। सुभद्रा और लक्ष्मण सिंह शायद ऐसा ही भाग्य लेकर इस दुनिया में आये थे। आज़ादी तो मिल गयी थी, पर उनके किशोर मनों ने जिस आज़ादी का स्वप्न देखा था, जिस सपने के सामने भविष्य के और सारे सपने धूमिल पड़ गये थे, उनके इन सपनों

की आज़ादी यह नहीं थी। उनके जैसे और भी न जाने कितने देश-भक्त इस समय अपना भग्न-स्वप्न लिए दिग्विमूढ़-से खड़े थे।

गीता में कहा गया है कि 'कर्मण्येवाऽधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन'। बात सिद्धान्त रूप में बहुत सही है। यदि आदमी का ध्यान पहले से ही फल की ओर होगा, अपने द्वारा करणीय कार्य की ओर नहीं होगा, तो फिर धीरे-धीरे यह स्थिति आ जायेगी कि वह फल प्राप्ति की जल्दी में उस तक पहुंचने के रास्ते की उपेक्षा करने लग जायेगा। साधन और साध्य में साधन का महत्व साध्य से कम नहीं होना चाहिये, बल्कि गीता के उपदेश में तो साधन को ही अधिक महत्वपूर्ण बताया गया है। साधन के प्रति यदि आदमी सजग होगा, पूरी तरह से ईमानदार होगा, तो उसके द्वारा प्राप्त किये हुए लक्ष्य के प्रति उसकी आस्था अधिक होगी, उसकी रक्षा और उसके सम्मान के लिये उसकी प्रतिबद्धता अधिक होगी। लेकिन मान लीजिये कि आप अपने कर्त्तव्य के प्रति ईमानदार हैं, निष्ठावान हैं, और तन-मन से समर्पित हैं, परन्तु जब उसकी परिणति पर फल प्राप्ति का समय आता है, तो आप देखते हैं कि उसे तो किसी दूसरे ने आकर लपक लिया, तब आपको कैसा लगेगा? जब आप जेल जा रहे थे, आपके सूने में आपकी पत्नी बीमार थी या उसका देहान्त हो गया था, आपके बच्चे बिना समुचित देख-रेख के, बिना शिक्षा की व्यवस्था के आवारा निकल गये थे या पढ़ नहीं पाये थे और उस समय जो लोग अपना व्यापार कर रहे थे, सूदखोरी कर रहे थे, गल्ले की चोर-बाज़ारी कर रहे थे और जो सरकार आपको जेल भेजती थी, उसी सरकार को मज़बूती देनेवाले पुर्जों का काम कर रहे थे, उसे चन्दे की मोटी-मोटी रकमें दे रहे थे, वे ही आज़ादी की जादू की छड़ी फिरते ही रातों-रात सबसे बड़े देशभक्त बन गये। समाज में या सभा में वे मंच पर सम्मान का स्थान पाते हैं और आप वही स्वयंसेवक के स्वयंसेवक रह गये, सभा में खड़े होकर उसकी व्यवस्था संभालने वाले। तो यह क्षुब्ध होने की, हताश होने की बात तो थी ही। यह कोई जरूरी नहीं था कि जिन्होंने भी देश की स्वाधीनता के लिये काम किया था वे सभी मंत्री बन जाते या ऊंचे-ऊंचे पदों पर पहुंच जाते। किन्तु वे देखते कि परतंत्र भारत में अपनी देश सेवा के कारण उन्हें पद या धन न मिला हो पर समाज में सम्मान तो मिलता था परन्तु स्वतन्त्र भारत में तो न उन्हें पद मिला, न धन और न सम्मान ही। यह सब तो कुछ चाटुकार या सम्पन्न लोग ले गये जो पहले अंग्रेज़ों की चाटुकारी करते थे और तब भी सम्पन्न और सुखी थे, और अब अपने नये प्रभुओं की चाटुकारी करके सम्पन्न और सुखी हैं। या स्वयं उनके वे साथी जो इस फल प्राप्ति की दौड़ में सफल हो गये वे धीरे-धीरे उनसे दूर हटते गये, उनकी दुनिया वही साधन-सम्पन्नों की दुनिया बन गयी और उनकी सारी चेष्टा यह हो गयी कि किस प्रकार उनका वर्तमान पद उनकी भावी उन्नति की सीढ़ी बन जाये और वे निरन्तर ऊपर, और ऊपर चढ़ते जायें। यदि समाज में

प्रभुता के बदले सेवा का, त्याग का चरित्र बल का सम्मान होता, यदि प्रभुता की दौड़, अंधी दौड़ में न बदल जाती, तो शायद उनके मन में इतनी निराशा भी न होती। किन्तु मूल्यों के इस विघटन के युग में भी कुछ लोग अब भी उन मूल्यों से चिपके हुए थे और अपनी इस चेष्टा के कारण वे साधारण जन से दूर नहीं हो पाये थे। कुछ अपनी परिस्थितियों के कारण, कुछ अपने निर्भीक सच्चे स्वभाव के कारण यह दम्पति भी साधारण जनता के साथ रहा आया।

देश स्वाधीन हो गया था, परन्तु स्वाधीनता कितना बड़ा उत्तरदायित्व भी लाती है, इसे न जनता ने समझा था और न नेताओं ने पहले से यह बात धीरे-धीरे लोगों के मन में बिठाने की कोशिश ही की थी। देश विभाजन का दुःख तो था ही, उसके साथ-साथ साम्प्रदायिक दंगों की और विस्थापितों की बहुत बड़ी समस्या भी सामने थी। कुर्सी पर बैठा आदमी बदल गया था, पर कुर्सी वही पहले वाली थी, वही शासन व्यवस्था थी और वही समाज व्यवस्था थी। गरीब और अमीर, ऊंच और नीच सभी कुछ वैसा ही था। इस कारण सामाजिक कार्यकर्ता के पास तो अब भी अनन्त काम थे। देश विभाजन और विस्थापितों पर किये गये निर्मम अत्याचारों से उत्पन्न विक्षोभ के कारण उत्पन्न सांप्रदायिकता की आग को फैलने से बचाना सबसे बड़ा काम था। चारों तरफ़ दंगे हो रहे थे। धर्म के नाम पर लोग अपने-अपने धर्मों की सीखों को पैरों तले रौंद रहे थे। ऐसे समय अपना संतुलन बनाये रखना बहुत कठिन होता है। सुभद्रा और लक्ष्मण सिंह विस्थापितों के पुर्नवास में अपनी भरसक सहायता भी दे रहे थे और साथ ही साथ उस गरीब मुसलमान को जो स्वेच्छा से या साधनहीन होने की विवशता के कारण हिन्दुस्तान में ही रहा आया था, विस्थापित होने से बचा भी रहे थे। गरीब मुसलमानों की बस्ती में जाकर उनको सहारा देते थे, आश्वस्त करते थे। दंगों के दिनों में उन्हें लगता था कि कोई उनका भी रक्षक है।

स्वराज्य का अर्थ लोगों ने समझ लिया था कि जब हमारा राज्य है, तो सब कुछ हमारा ही है, और जो ज्यादा समर्थ है वह ज्यादा बड़ा अधिकारी भी है। बेचारे गरीब का शोषण पहले जैसा ही हो रहा था। न तो किसानों की दशा में कोई सुधार आया था, न पोस्टमैन की दशा में और न प्राइमरी स्कूल के मास्टर की दशा में। अपनी मांगों के लिये इन्हें आन्दोलन करना पड़ा और सुभद्रा की पूरी सहानुभूति इस शोषित वर्ग के साथ थी। बरार के प्राइमरी स्कूलों के मास्टरों की न्यायोचित मांग जब नहीं मानी गयी, तब उन्होंने हड़ताल की धमकी दी, परन्तु वे भी जानते थे कि अपनी विपन्न दशा में वे हड़ताल अधिक दिनों तक नहीं चला सकते। अपनी मांगें मनवाने के लिये उन्हें किसी ऐसे व्यक्ति के समर्थन की आवश्यकता थी, जिसकी आवाज़ में बल में हो। ऐसे समय में सुभद्रा उनकी मांग को लेकर विधान सभा की सदस्यता छोड़ने तक के लिये तैयार हो गयी थीं।

जबलपुर में मेहतरों की हड़ताल हुई। हड़ताल के आयोजक, दमन शुरू होते ही भूमिगत हो गये थे। हड़ताली मेहतर गिरफ़्तार हो गये और उनकी झोंपड़ियों पर पुलिस का दमन शुरू हुआ, तो सुभद्रा से निरीह स्त्री-बच्चों और बूढ़ों पर यह अत्याचार न देखा गया। वे उनके घरों में गयीं। एक टूटी-फूटी झोंपड़ी में एक स्त्री को बच्चा हुआ था और वह अकेली पड़ी कराह रही थी। सुभद्रा ने उसकी हालत देखी। चूल्हा जलाकर उसके लिये पानी गरम किया। उसके बाद पड़ोस की एक बूढ़ी औरत को बहुत समझा-बुझाकर उसके पास बिठाया, कोई भी पुलिस के डर के मारे अपनी जगह से हिलने को तैयार नहीं था, इसके बाद वे अपने घर आयीं। जच्चा के लिये जो भी सामान जरूरी था, लेकर फिर उसके घर गयीं। उस बस्ती में कई दिन तक उन्हें जाना पड़ा। और जब रोज का जाना हो गया, तो फिर उनके द्वारा आदर से पेश की हुई चाय पीने में क्या संकोच था? तभी तो वे अपनी कविता में लिख सकीं:

मैं अछूत मंदिर में आने का मुझको अधिकार नहीं है
किन्तु देवता यह न समझना मेरा तुम पर प्यार नहीं है।

जो सफ़ाई उन्होंने मेहतरों के घरों के अन्दर देखी, उस सफ़ाई के रहस्य को वही जान सकता है जिसे इतनी गन्दगी का काम करना होता है। सदियों से मानवोचित व्यवहार से वंचित लोगों के हृदय में अपने उपकारी व्यक्ति के लिये कितनी कृतज्ञता होती है, यह तो उनके सम्पर्क में आने वाला ही जानता है। परन्तु यह सब देखने-समझने के लिये भी शायद एक खास तरह की दृष्टि की आवश्यकता होती है। कायदा यही है कि आदमी अपने से ऊपर के आदमी को देखता है। तभी तो रहीम ने लिखा था—'जो रहीम दीनहि लखे, दीनबन्धु सम होय।'

निरन्तर के संघर्षमय जीवन से सुभद्रा का स्वास्थ्य अन्दर ही अन्दर जर्जर होता जा रहा था। उनके सिर में पहले भी भयानक दर्द हुआ करता था, जिसे वे बिना कुछ परवाह किये सारिडोन की गोली खाकर दबा दिया करती थीं। क्योंकि अपने व्यस्त जीवन में बिस्तर पर लेटने का सुख उन्हें कभी नहीं मिला और यदि मिलता भी, तो वे उसका लाभ उठा सकतीं, इसमें बहुत संदेह है।

स्वाधीनता मिलने के बाद उनका कार्यक्रम कुछ कम व्यस्त हो गया हो ऐसी बात नहीं थीं। जो सामाजिक काम पहले थे वे अब भी जैसे के तैसे बने हुए थे। अपनी सरकार बन जाने के बाद एक नये तरह का काम और शुरू हो गया था। किसी को स्कूल या कॉलेज में प्रवेश नहीं मिल रहा है, तो वह उनके पास दौड़ा आता था। किसी को मकान बनाने को लोहे का परमिट चाहिये था, तो किसी को नौकरी पाने के लिये उनकी पैरवी की जरूरत थी, और इस तरह के दसियों काम हर समय निकलते ही रहते थे। कोई दूसरा व्यक्ति होता, तो इस तरह के बहुत-से गैर-जरूरी

कामों को टाल भी सकता था, परन्तु सुभद्रा के लिये किसी दूसरे का कोई भी काम गैर-जरूरी नहीं होता था। उनके बच्चे या उनके पति कभी उन्हें टोकते कि तुम्हारी तबीयत खराब है, इतनी जल्दी थक जाती हो फिर तुम क्यों, कोई आया नहीं कि उसके साथ, उसका काम कराने चल देती हो ? इसका उनके पास बस एक ही उत्तर था—"बेचारा इतनी मुसीबत में पड़कर तो मेरे पास आया, अब अगर मैं भी इन्कार कर दूंगी तो उसको कितना दु:ख होगा।" और उनके पास अपने काम से आया व्यक्ति निराश न लौट जाये, इसलिये जब उनका सिर दर्द एक गोली से ठीक नहीं होता था, तो वे दो गोली खाने लगीं। और जब दो से भी ठीक नहीं होता था, तो तीन गोली की भी नौबत आ जाती थी। घर के लोग जब उनकी सिरदर्द की गोलियां छिपा कर रखने लगे, तो उन्होंने खुद अपनी गोलियां अलग-अलग जगहों में छिपा कर रखना शुरू कर दिया। परन्तु यदि वे स्वयं अपने गिरते स्वास्थ्य को अनुभव करती थीं तो भी, उन्हें शायद इसका अन्दाज नहीं था कि वे भीतर ही भीतर कितनी ज्यादा बीमार और अशक्त हैं, और उनके घरवालों को तो, उन्हें साधारण रूप में चलते-फिरते, हंसते-बोलते देखकर जरा भी अन्दाज नहीं था कि वास्तव में उनका स्वास्थ्य कितना जर्जर हो चुका है।

एक बार अपने किसी परिचित के लड़के की नौकरी के सिलसिले में वे उन्हीं की मोटर से नागपुर जा रही थीं। नागपुर पहुंचने को कोई पचास-साठ मील बचे होंगे कि उनकी नाक से खून बहने लगा। नकसीर फूटी थी या अन्दर की कोई नस फट गयी थी, पता नहीं, बीच जंगल में कोई क्या करता ? जो भी उपाय उन लोगों से बना, किया, परन्तु नाक से खून गिरना बन्द न हुआ। नागपुर पहुंचने पर उन्हें सीधे अस्पताल में भरती कर दिया गया। और जैसे ही वे इस लायक हुईं कि यात्रा कर सकें, वापिस जबलपुर आ गयीं। उनकी बीमारी का समाचार उनके वापिस आने के पहले ही उनके घर पहुंच गया था। और उनके बच्चों ने और लक्ष्मण सिंह ने तय कर लिया था कि अब उनसे ज़बर्दस्ती आराम करवाया जायगा। उनका रक्तचाप बहुत बढ़ गया था और तब तक बढ़े रक्तचाप की कोई विशेष दवा नहीं निकली थी, सिवाय आराम और खाने-पीने के संयम के। खाने-पाने का संयम तो आसानी से हो गया, सिवाय चाय ज्यादा पीने के असंयम के, लेकिन आराम उनसे कोई नहीं करवा सका। वे मुश्किल से दो-तीन दिन घर से बाहर नहीं निकलीं, एक-दो दिन बिस्तर पर लेटी रहीं और फिर उन्होंने विद्रोह कर दिया कि मैं बिस्तर पर लेट कर नहीं रह सकती। अगर बिस्तर पर ही लेट-कर जीना है, तो इससे तो अच्छा है कि मैं मर जाऊं।

सुभद्रा अपनी पुरानी दिनचर्या पर तो लौट आयी थीं परन्तु अब उनका सिर दर्द इतना बढ़ गया था कि दो-तीन गोलियों का भी कोई असर नहीं होता था। जब सिर दर्द से बहुत बेचैन हो जातीं, तब तो वे कुछ देर को बिस्तर पर लेट जाती थीं,

नहीं तो बाकी समय, वही हंसती-बोलती, मित्रों से मिलती-जुलती दिखाई पड़ती थीं। सन् १९४१ में जब व्यक्तिगत सत्याग्रह में वे एक महीने के लिये जेल में थीं, तब वहां वे अकेली राजबन्दिनी थीं। इस एकान्त का उन्होंने भरपूर फायदा उठाया था और उतने ही दिनों में करीब १४-१५ कहानियां लिख डाली थीं। परन्तु बाहर आकर उन्हें साफ़ करने का मौका नहीं मिला। अब नये-नये पत्र निकल रहे थे। उनके अनेक साहित्यिक अनुजों में कुछ पत्रकार भी थे। वे उनके पीछे पड़ कर कभी पुरानी कहानी साफ़ करवा कर, कभी नयी लिखवा कर अपने पत्र के लिये ले जाते थे। अपने जीवन के इन अन्तिम दिनों में उनके जीवन में कुछ व्यवस्था, कुछ सुरक्षा आयी थी, तो अब उन्हें कहानियों के पारिश्रमिक की भी ज़रूरत नहीं थी। इसी तरह गिरते स्वास्थ्य के बाद भी उनका कार्य-संकुल जीवन ठीक ही चल रहा था, केवल एक चीज़ उनमें नयी आ गयी थी, वह थी कभी-कभी निराशा की बातें करना। अब यह निराशा अपने खंडित स्वप्नों से उत्पन्न निराशा थी, या देश की विक्षुब्ध दशा के कारण थी, या जर्जर स्वास्थ्य के कारण थी, या सबकी मिली-जुली परिणति थी, कहना कठिन है। किन्तु जो लोग सुभद्रा के निकट रहते थे, वे जानते थे कि ये निराशा के बादल जो बीच-बीच में आ जाते थे, ये उनके लिये नितान्त अपरिचित बिलकुल नयी चीज थे, उन्होंने ही लिखा था :

आशा आलोकित करती
 मेरे जीवन के प्रतिक्षण
हैं स्वर्ण किरण से वलयित
 मेरी असफलता के घन।

तो इस समय तो निराशा का ऐसा कोई विशेष कारण नहीं था। इतने लम्बे जीवन-संघर्ष के बाद अब अपेक्षाकृत सुव्यवस्थित जीवन था, पूरा परिवार साथ था, एक बेटी को छोड़कर, पर वह अपने परिवार में सुखी थी। देश भी स्वतंत्र हो गया था, लेकिन वे भीतर ही भीतर टूट चुकी थीं। हो सकता है यह निराशा उनके जीवन के अवसान का पूर्वाभास हो।

जनवरी सन् १९४८ की बात है। देश का विभाजन अंगच्छेद के समान दुःखदायी था और अब उसकी पीड़ा हिन्दू-मुस्लिम दंगों के रूप में यहां-वहां सब जगह फैल रही थी। इस समय बहुतों का जीवन स्वप्न छिन्न-भिन्न हो रहा था, तो फिर गांधी जी, जो इस पूरे स्वाधीनता अभियान के सूत्रधार थे, उनके मनस्ताप की तो कोई सीमा ही नहीं थी। वे अकेले ही इस वैमनस्य की आग को बुझाने निकल पड़े थे। अपने बाप-दादों को घर द्वार को छोड़कर, अपने वतन को छोड़कर जब पूरे-के-पूरे काफ़िले, सिर के ऊपर छप्पर और एक वक्त की रोटी की तलाश में शहर-शहर और गांव-गांव पहुंचने लगे, तो लोगों के क्रोध और प्रतिहिंसा की भावना की सीमा

नहीं रही। गांधी जी उसी बाढ़ के रेले के खिलाफ अपनी दुर्बल काया लेकर निकल पड़े थे। और इसका परिणाम वही होना था जो हुआ। दिल्ली में ३० जनवरी, सन् १९४८ की शाम को पांच बजे जब वे प्रार्थना सभा में जा रहे थे, तो गोली मारकर उनकी हत्या कर दी गयी। यह समाचार आग की लहर जैसा थोड़ी ही देर में पूरे हिन्दुस्तान में फैल गया।

शाम ५॥ बजे के करीब किसी ने आकर सुभद्रा से कहा कि उसने सुना है कि बिड़ला भवन में किसी ने गांधी जी की हत्या कर दी। उन्होंने फौरन सिटी मजिस्ट्रेट के यहां से पता लगाया, तो मालूम हुआ कि खबर एकदम सच है। इसके बाद तो उनके भीतर जो थोड़ी बहुत जीवनी-शक्ति या जिजीविषा बची भी थी, वह जैसे एकदम बुझ-सी गयी। उनके मित्र और परिचित दुःखी होने पर उनके पास आते थे कि उनसे बात करके, उनके साथ बैठकर उनका मन हल्का हो जायगा, अब वे स्वयं ऐसी पीड़ा की प्रतिमूर्ति बन गयी थीं कि अपने बच्चों को, अपने घर के लोगों तक को अपरिचित-सी लगने लगी थीं। वे कुछ महीने पहले से कहने लगी थीं कि मेरी इच्छा है कि मैं कुछ दिन वर्धा जाकर बापू के पास रहूं। दिल्ली से लौटकर फरवरी में गांधी जी सेवाग्राम में रहने वाले थे, लेकिन वे दिल्ली से लौट ही नहीं पाये। और अब उनके देहान्त का समाचार सुनकर सुभद्रा को अपनी यह इच्छा और ज्यादा याद आने लगी।

गांधी जी की मृत्यु के दूसरे दिन ३१ जनवरी को लोग जुलूस बनाकर नंगे सिर, नंगे पांव नर्मदा के श्मशान घाट, ग्वारीघाट तक गये। हर एक का चेहरा ऐसा लुटा-सा दिखता था मानो उसी के घर का कोई चला गया हो। सुभद्रा की तबीयत इन दिनों बहुत खराब थी। रक्तचाप खूब बढ़ा हुआ था। पथ्य के कारण खाना-पीना एकदम बन्द-सा था। खाने में केवल एक पतली रोटी और बिना नमक की उबली साग-सब्जी मिलती थी। इस सबके बाद भी वे ग्वारीघाट तक पैदल गयीं। उनकी गहरी उदासी को देखकर किसी की हिम्मत नहीं पड़ी कि उन्हें रोके।

उन दिनों उनकी बेटी अपने बीमार लड़के को लेकर उनके पास आई हुई थी। बस एक उनका वही नाती था जो अपनी भोली चेष्टाओं से कभी-कभार उनपर छायी तटस्थ विरक्ति से उन्हें जीवन के पास घसीट लाता था। इसी तरह एक उदास भूरे बादल में लिपटे-से वे बारह दिन धीरे-धीरे खिसके और गांधी जी के अस्थि-विसर्जन का दिन आ पहुंचा।

१२ फरवरी, १९४८ को गांधी जी की अस्थियां दिन के १२ बजे प्रयाग में सगम में सिराई जाने वाली थीं और प्रबन्ध यह था कि ठीक उसी समय, देश के अन्य प्रान्तों में उनकी राजधानी या किसी प्रमुख नगर के नदी या जलाशय में भी बापू के फूल सिराये जायं। मध्यप्रदेश में इस काम के लिये जबलपुर चुना गया था और वहां से करीब आठ मील दूर नर्मदा के तिलवारा घाट पर फूल सिराने का

प्रबन्ध था। अस्थि-कलश लेकर गाड़ी सबेरे-सबेरे जबलपुर के मदन महल स्टेशन पर पहुंचने वाली थी। स्टेशन से तिलवारा तक के रास्ते पर उस दिन कोई सवारी नहीं जा सकती थी। सुभद्रा सबेरे-सबेरे स्टेशन गयीं। जबलपुर में नये-नये आये पुलिस अधिकारी ने उन्हें पहचाना नहीं और प्लेटफार्म पर जाने से रोक दिया। परन्तु ज्योंही उसे मालूम हुआ कि वे कौन हैं, उसने उन्हें अन्दर जाने की आज्ञा दे दी, परन्तु जहां वे खड़ी थीं वहां और भी कांग्रेसी कार्यकर्ता खड़े थे, जो बापू के पार्थिव अवशेष को अपनी अन्तिम श्रद्धांजलि देने आये थे। सुभद्रा को वहां का पुलिस बन्दोबस्त और नौकरशाही रंग बहुत विरक्तिकर लग रहा था। वे अड़ गयीं कि यदि मेरे ये साथी अन्दर नहीं जा सकते, तो फिर मैं भी नहीं जाऊंगी। बापू के साथ काम तो इन्होंने किया और अब आप उनकी भस्म के रक्षक बन गये हैं। जो भी हो, अन्त में, सुभद्रा और उनके अन्य कांग्रेसी बन्धु प्लेटफ़ार्म पर गये।

स्टेशन पर भस्म के कलश तोपगाड़ी पर रखे गये, जिसे फौज के सिपाही खींच रहे थे। उसके पीछे प्रान्तीय मंत्रिगण, उनके सेक्रेटरी, फिर उनके नीचे के अफ़सर इस तरह, ऊपर से नीचे की ओर को क्रमानुबद्ध चल रहे थे। पूरा रास्ता लोगों से भरा हुआ था, कुछ लोग रास्ते के किनारे खड़े थे, कुछ जुलूस में साथ हो लिये थे। सुभद्रा भी अपना खिन्न मन और भग्न स्वास्थ्य लिये इसी जुलूस के साथ पैदल चल रही थीं। जुलूस ज्यों-ज्यों आगे बढ़ रहा था, उसकी जन-संख्या बढ़ती जा रही थी। धीरे-धीरे सुभद्रा के साथ पचास-साठ स्त्रियां जुलूस में सम्मिलित हो गयी थीं।

आठ मील चलकर जुलूस तिलवारा घाट पहुंचा। वहां नर्मदा के रेतीले तट पर कंटीले तारों से घेरा बना दिया गया था जिसके अन्दर भस्म के कलश रखे जाने वाले थे और वहां कुछ विशिष्ट जन ही प्रवेश पाने के अधिकारी थे, जैसे मंत्रीगण सरकारी अधिकारी और मोटरों में चढ़कर पहले ही से पहुंच जानेवाली उनकी आधुनिका पत्नियां। अधिकारियों ने सुभद्रा को तो उस घेरे के अन्दर जाने की अनुमति दी, लेकिन उनके साथ पैदल आयी अन्य स्त्रियों को नहीं। जनता उस घेरे से बहुत दूर खड़ी होकर भस्म-विसर्जन देख सकती थी।

इन दिनों सुभद्रा का मन यों ही बहुत दु:खी था। ऊपर से आज सबेरे से बापू की भस्म का यह अफसरी अपहरण उन्हें और भी खिन्न बना रहा था और अब बड़े लाट के अन्तिम संस्कार जैसे इस शासन के यंत्र में जकड़े प्रबन्ध ने तो जैसे उनके अन्दर बैठी विद्रोहिणी को झकझोर के जगा दिया। गरीब भारतवासियों के हृदय सम्राट्, उनके प्यारे बापू के अन्तिम संस्कार में क्या उन्हें उस मेहनत की रोटी खानेवाले, जेल की चक्की पीसनेवाले की खुरदुरी हथेली की एक भी जलांजलि नहीं मिल पायेगी? उनसे अपने प्यारे बापू की स्मृति की यह अवमानना नहीं सही गयी। जिस जनता जनार्दन के साथ बापू का जीवनपर्यन्त तादात्म्य था, अन्त समय

में उनके निरीह अस्थिकलश को उसी जनता से छीनकर उन लोगों ने हथिया लिया था जिनकी जीवन-प्रणाली और मान्यताओं के खिलाफ़ आजीवन उनकी लड़ाई रही। वे जिलाधीश के पास गयीं और बोलीं कि मेरे साथ पैदल चलकर जो स्त्रियां आई हैं, उन्हें भी भीतर आने की अनुमति दी जानी चाहिये। उसने दो टूक जवाब दिया कि अब हमारी व्यवस्था में कोई रद्दोबदल नहीं हो सकता है। आज़ादी के संघर्ष के दिनों में सुभद्रा के साथी कांग्रेस के तत्कालीन माननीय मंत्रि-गण सिर झुकाये चुपचाप बैठे रहे। उन्हें इस सारे आयोजन की विडम्बना दिखाई नहीं पड़ रही थी। सुभद्रा का दु:ख और क्रोध सब जैसे एकाकार हो गया। उन्होंने शान्त कंठ से कहा, तो फिर यह अस्थि-विसर्जन भी नहीं हो पायेगा। उनके पति लक्ष्मण सिंह वहीं पास ही में थे। उन्होंने स्थिति को संभालने के खयाल से सुभद्रा से पूछा कि तुम्हारे साथ तीसेक स्त्रियां होंगी। जिलाधीश सुभद्रा के क्रोध से दीप्त चेहरे की दृढ़ता को देखकर समझ गया कि यह समझौते का सुझाव है। फ़ौरन बोला कि अगर तीसेक स्त्रियां हैं, तो वे भीतर आ सकती हैं।

ऊंचाई पर नदी के कगार पर दूर खड़ी जबलपुर की जनता ने निर्बल के स्वत्व की रक्षा के लिये सुभद्रा का यह संघर्ष देखा और उसमें उनकी विजय देखी। वे लोग अपने पुराने साथियों, जो प्रभुता की डोर पकड़ते ही उनसे दूर और दूर हुए जा रहे थे, और अपने बीच की बढ़ती दूरी के कारण दु:खी थे, उन्हें लगा कि अभी भी कुछ लोग ऐसे बचे हैं जो पुराने सम्बन्धों को भूले नहीं हैं। जिनके जीवन मूल्य प्रभुता का मद पाकर भी बौराये नहीं है। ऐसा व्यक्ति लोगों के हृदय में अनायास स्थान पा लेता है।

परन्तु विद्रोहिणी सुभद्रा का यह संघर्ष दीपक की क्षीण होती हुई लौ की अन्तिम दीप्ति जैसा ही था। उनका स्वास्थ्य इतना जर्जर हो चुका था कि वे किसी भी प्रकार का बोझ, मानसिक या शारीरिक, बर्दाश्त करने के लायक नहीं रह गयी थीं। उनके इस गिरते हुए स्वास्थ्य और मनोबल को गांधी जी की मृत्यु से बहुत बड़ा धक्का लगा था। उनकी वह अदम्य जिजीविषा जिसके चलते वे भयंकर जीवन संघर्ष और दुर्दान्त शारीरिक कष्टों को अब तक झेल ले आयी थीं, अब उनका साथ छोड़ रही थी। कुछ महीनों से वे कई बार कह चुकी थीं कि अब मैं और जीना नहीं चाहती।

नागपुर में शिक्षा विभाग की एक मीटिंग थी। मीटिंग तो कोई बहुत जरूरी नहीं थी, परन्तु नागपुर में उनके एक बहुत पुराने मित्र बीमार थे और वे उनसे मिलने जाना चाहती थीं। पिछले दिनों की घटनाओं से वे यों ही बहुत थकीं और जर्जर हो रही थीं। ऐसी स्थिति में घर का कोई भी व्यक्ति नहीं चाहता था कि वे इस यात्रा पर जायें। उनके पति ने उन्हें रोकने का प्रयत्न किया पर जब वे न मानीं, तो यही तय पाया कि डॉक्टर को दिखा दिया जाये। यदि डॉक्टर अनुमति

दे तब वे जायें। १३ फरवरी की शाम को वे डॉक्टर के घर गयीं। जांच करने पर मालूम हुआ कि उनका रक्तचाप बढ़ा हुआ है। डॉक्टर ने कहा कि ऐसे में तो मैं आपको सलाह न दूंगा कि आप जायें, पर यदि जाना जरूरी ही हो तो आप मोटर से जायें, रेल से जाने की सलाह मैं न दूंगा।

इस तरह १४ फरवरी को बड़े सबेरे वे नागपुर के लिये रवाना हुईं। १५ फरवरी को वसन्त पंचमी थी, सुभद्रा का बहुत प्रिय त्यौहार। और उसी दिन से वे अपने नाती को अन्न खिलाना शुरू करने वाली थीं। लड़का छः महीने से बीमार था, और बहुत जबर्दस्त संयम के बाद उसका लिवर काबू में आया था, इसलिये यही तय पाया था कि १५ की सबेरे ही वे नागपुर से चल देंगी जिससे दोपहर तक जबलपुर पहुंच जायें। सबेरे अपनी और अपने बेटे विजय की तैयारी करके, सोते हुए बच्चों को प्यार करके जब वे घर से निकलने को मुड़ी, तो एक सियार के रोने की आवाज़ सुनाई पड़ी। वे बोल पड़ीं, "यह कैसा अपशकुन हो रहा है ?" लक्ष्मण सिंह और उनकी बेटी ने करीब साथ-ही-साथ टोका कि तुम भी कैसी बातें करती हो। और वे चली गयीं। अपने घर में वह उनकी अन्तिम बातचीत थी।

वे नागपुर में मीटिंग में गयीं फिर शाम को बीमार मित्र को देखने गयीं। वहां काफ़ी देर बैठी रहीं। इरादा यही था कि जैसे सबेरे जबलपुर से चली थीं वैसे ही सबेरे-सवेरे नागपुर से भी चल पड़ेंगी, परन्तु मित्र का आग्रह था कि एक बार सबेरे फिर आयें। दूसरे दिन निकलते-निकलते भी दिन के २॥ बज गये। नागपुर से ७० मील का रास्ता निर्विघ्न बीत गया। सिवनी के पास खूब हरा-भरा सागौन का जंगल है। मोटर जंगल के बीच समतल सड़क पर जा रही थी कि रास्ते के बीचों-बीच तीन-चार मुर्गी के बच्चे दिखाई पड़े। सुभद्रा ने कहा, "बेटा, बच्चों को बचाना।" उसने मोटर काटी, ड्राइवर बगल में बैठा था, उसने संभाला तो भी बचाते-बचाते मोटर का पिछला दरवाजा सड़क के किनारे लगे पेड़ से टकरा गया। सुभद्रा दूसरी तरफ बैठी थीं, उन्हें चोट तो नहीं आई, परन्तु उस धक्के से वे बेहोश हो गयीं, थोड़ी ही देर बाद वहां से एक मोटर लारी निकली। उसकी सब सवारी उतार कर उन्हें उसमें लिटाकर सिवनी के अस्पताल में ले गये, जहां डाक्टर ने बताया कि दिमाग की नस फट जाने के कारण उनकी मृत्यु हो गयी है।

जबलपुर में उनके बच्चे बसन्ती रंग के कपड़े पहने उनकी प्रतीक्षा कर रहे थे। जब वे दोपहर को नहीं आईं, तो सोचा कि वे शाम को आयेंगी। शाम को जब झुटपुटा-सा हो रहा था, एक आदमी यह खबर लाया कि अभी-अभी सिवनी से टेलीफोन पर यह सूचना मिली है कि सिवनी के पास मोटर दुर्घटना में सुभद्रा कुमारी की मृत्यु हो गयी है।

जो जन्म लेता है उसकी मृत्यु निश्चित है। यह एक ऐसा सत्य है जिसे सब जानते हैं और तब भी भूले रहते हैं। फिर एक दिन जबर्दस्त झटके से उनके सामने

यह सत्य उजागर हो जाता है। और तब समझ में आता है कि भाग्य के सामने वे कितने निर्बल और असहाय हैं।

अभी गांधी जी की मृत्यु के झटके से जबलपुर निवासी उबर भी न पाये थे कि उन्हें यह दूसरा झटका लगा। सुभद्रा उनके शहर की थीं, उनकी अपनी थीं, उनके सुख-दुःख की साथिन थीं। वे बहुत दिनों से बीमार होतीं, उनकी उम्र अधिक होती तो शायद उनका देहान्त इतना अप्रत्याशित नहीं लगता। १६ अगस्त १९०४ ई० को जन्म लेकर १५ फरवरी, १९४८ ई० तक ही रहने के लिये वे इस दुनिया में आयी थीं। जिस आज़ादी के लिये उन्होंने जीवन-भर संघर्ष किया था, वह अभी-अभी तो मिली थी, अभी मुश्किल से ६ महीने हुए थे। उनकी लेखनी जिसने 'झांसी की रानी' और 'वीरों' का कैसा हो वसन्त जैसी ओजस्वी, देशप्रेम की कवितायें दी थीं, वह बरसों सोते-जागते रहने के बाद अब फिर से सजग हो गयी थीं और उनकी कहानियां पत्रों में प्रकाशित होने लगी थीं। जीवन ने एक निश्चित गति पा ली थी, और इस कारण, और कामों के साथ-साथ लिखने-पढ़ने का काम भी व्यवस्थित ढंग से चलने लगा था। तभी अचानक जीवन की डोर एक झटके-से टूट गयी।

१०

सुभद्रा की मृत्यु, उनकी कच्ची गृहस्थी, उनके छोटे-छोटे बच्चों और उनके पति के लिये तो भयानक धक्का थी ही, जबलपुर के निवासियों के लिये भी उनका जाना एक ऐसी हानि थी, जिसे वे स्वीकार नहीं कर पा रहे थे। वे सामाजिक कार्यकर्त्री, देश-सेविका, कवि, लेखिका तो जो थीं सो थीं ही, सबसे बड़ी तो उनकी मनुष्यता थी, उनका सहज-स्नेहमय उदार हृदय था जिसने अपने-पराये सबको आत्मीय बना लिया था। उनकी शवयात्रा में हजारों की संख्या में लोग सम्मिलित हुए। उसमें पढ़े-लिखे सम्भ्रान्त नागरिक थे, वकील, डॉक्टर थे, लेखक थे, अध्यापक थे, कुली-कबाड़ी थे, मेहतर थे और अपना रिक्शा चलाने की रोज़ी छोड़कर रिक्शेवाले भी सम्मिलित हुए थे।

जबलपुर के निवासियों के मन में अपनी इस स्नेहमयी, निरभिमानिनी बहन के लिये अनन्त आदर और स्नेह था। वे अपने हृदय की श्रद्धा को और अपने प्रेम को साकार रूप देना चाहते थे। जबलपुर के साहित्यिक राजनीतिक पत्र प्रहरी ने सुभद्रा स्मारक निधि के लिये अपील निकाली। लोग स्वेच्छा से आ-आकर चन्दा देने लगे। आपस में तय करके लोगों ने यही निश्चय किया कि सुभद्रा की एक आदमकद मूर्ति बनवाकर शहर के किसी प्रमुख स्थान में उसकी प्रतिष्ठापना की जाये। सफेद संगमर्मर की एक आदमकद मूर्ति बनकर आई और जबलपुर कारपोरेशन भवन के सामने वाले बगीचे में उसे स्थापित किया गया। मूर्ति के अनावरण के लिये महादेवी वर्मा से अनुरोध किया गया और वे इसके लिये तत्काल तैयार हो गयीं।

आज तो हर शहर में, और शहर के कितने ही चौराहों पर मूर्तियां लगी हुई हैं। राजनीतिक नेता की अधिक, लेखकों की कम, परन्तु आज से ३० साल पहले १९४९ ई० में मूर्ति स्थापित करना इतनी आम बात नहीं थी। और विशेषकर ऐसे व्यक्ति की, जो न प्रान्त का मन्त्री हो और न केन्द्र का और न राजनीतिक वंशानुक्रम में कोई प्रमुख स्थान रखता हो। सुभद्रा की मूर्ति स्थापित करने का उत्स उनके प्रति लोगों के हृदय की कृतज्ञता और उनका गहरा प्रेम था। मूर्ति-स्थापना के समारोह में बहुत-से बाहर के भी साहित्यिक आये। सबके पास अपने

आत्मीय संस्मरण थे, इलाहाबाद की तो वे बेटी ही थीं। बच्चन जी ने कहा कि उनकी अपनी जन्मभूमि इलाहाबाद के निहालपुर मुहल्ले के पास है। जब एक गांव की कन्या विवाह करके दूसरे गांव को जाती है, तो उसके गांव वाले उसे अपनी कन्या समझकर, उसके कुशल-समाचार दूसरे गांववालों से जानना चाहते हैं और उसकी प्रशंसा सुनकर गद्‌गद हो उठते हैं।

भदन्त आनन्द कौसल्यायन बोले कि जब वे विद्यार्थी थे और पंजाब में रहते थे तब उनकी यह आन्तरिक अभिलाषा थी कि हाथों में कड़े पहनकर और एक लकड़ी से उन कड़ों को बजाते हुए 'खूब लड़ी मर्दानी वह तो झांसी वाली रानी थी' गाते हुए गांव-गांव में घूमें, वैसे ही जैसे वहां के लोकगीत गायक अपने गीतों को गाते हुए घूमते हैं।

महादेवी ने अपने भाषण में कहा कि नदियों का कोई स्मारक नहीं होता, दीपक की लौ को सोने से मढ़ दीजिये पर इससे क्या होगा? हम सुभद्रा के संदेश को दूर-दूर तक फैलायें और आचरण में उसके महत्त्व को मानें, वही असल स्मारक है।

महादेवी सुभद्रा की बचपन की सहेली थीं। अपने संस्मरण सुनाती हुई वे बोलीं—"हमारे स्कूल के मैदान में एक पीपल का पेड़ था। उसमें दो ऐसी शाखें थीं जिस पर मैं और सुभद्रा बैठा करती थीं। वहां बैठकर सुभद्रा कहा करतीं—महादेवी, तुम मेरी तरफ बिना देखे मेरी बात सुनो।"

व्यक्ति तो चला जाता है, उसकी बात ही रह जाती है। उसकी तरफ बिना देखे, उसको बिना देखे, लोग उसकी बात सुनते हैं। यहां तक कि कभी-कभी उसका नाम भी लुप्त हो जाता है, बस बात रह जाती है। एक बार मैं अपने पड़ोस में रहने वाली एक वृद्धा महिला के भजनों की कापी देख रही थी—वहां मैंने सुभद्रा की कविता देखी :

देव तुम्हारे कई उपासक
कई ढंग से आते हैं,
सेवा में बहुमूल्य वस्तु वे
कई रंग की लाते हैं।
पूजा और पुजापा प्रभुवर
इसी पुजारिन को समझो,
दान दक्षिणा और निछावर
इसी भिखारिन को समझो।

आदि-आदि। मैंने बहुत खुश होकर कहा कि यह तो मेरी मां की कविता है। वे महिला अपने भजन को कविता मानने को या किसी पार्थिव व्यक्ति द्वारा रचित मानने को तैयार ही नहीं हुई।

या जब कोई पढ़ता है 'खूब लड़ी मर्दानी वह तो झांसी वाली रानी थी', तो वह उस कविता से मुग्ध होता है, उसका छन्द, उसका प्रवाह, उसका कथन, उसे बांध लेता है और जब वह पढ़ता है :

तेरा स्मारक तू ही होगी
तू खुद अमिट निशानी थी—

तब यह बता पाना जरा कठिन हो जाता है यह बात किसे लक्ष्य करके कही गयी है—इस कविता की नायिका—उसकी प्रेरणा स्रोत लक्ष्मीबाई के लिये कही गयी है, या स्वयं वीर गाथा की इसी कविता के लिये कही गयी है या कि इस कविता की रचयिता, जो देशप्रेम और साहस और वीरता में किसी से कम न थी, उसके लिये कही गयी है। या हो सकता है यह पंक्तियां सभी के ऊपर समान रूप से लागू हो जाती हैं, क्योंकि इसके लेखन के पीछे जो प्रेरणा है, जो साहस और बलिदान का अजस्र स्रोत है, वह इस कविता की कथा-नायिका और इसकी कथा-गायिका दोनों के हृदयों में समान रूप से व्याप्त है।

□

चयन

चलते समय

तुम मुझसे पूछते हो 'जाऊँ'?
मैं क्या जवाब दूँ तुम्हीं कहो!
'जा...' कहते रुकती है जबान
किस मुँह से तुमसे कहूँ रहो!

सेवा करना था जहाँ मुझे
कुछ भक्ति-भाव दरसाना था।
उन कृपा-कटाक्षों का बदला
बलि होकर जहाँ चुकाना था।

मैं सदा रूठती ही आयी,
प्रिय! तुम्हें न मैंने पहचाना।
वह मान बाण-सा चुभता है,
अब देख तुम्हारा यह जाना॥

ठुकरा दो या प्यार करो

देव ! तुम्हारे कई उपासक
कई ढंग से आते हैं।
सेवा में बहुमूल्य भेंट वे
कई रंग की लाते हैं॥

धूमधाम से, साजबाज से
वे मन्दिर में आते हैं।
मुक्ता-मणि बहुमूल्य वस्तुएँ
लाकर तुम्हें चढ़ाते हैं॥

मैं ही हूँ गरीबिनी ऐसी
जो कुछ साथ नहीं लायी।
फिर भी साहस कर मन्दिर में
पूजा करने को आयी॥

धूम-दीप-नैवेद्य नहीं है
झाँकी का श्रृंगार नहीं।
हाय ! गले में पहनाने को
फूलों का भी हार नहीं॥

कैसे करूँ कीर्तन,
मेरे स्वर में है माधुर्य नहीं।
मन का भाव प्रकट करने को
वाणी में चातुर्य नहीं॥

नहीं दान है, नहीं दक्षिणा
खाली हाथ चली आयी।
पूजा की विधि नहीं जानती
फिर भी नाथ! चली आयी॥

पूजा और पुजापा प्रभुवर!
इसी पुजारिन को समझो।
दान-दक्षिणा और निछावर
इसी भिखारिन को समझो॥

मैं उन्मत्त प्रेम की लोभी
हृदय दिखाने आयी हूँ।
जो कुछ है, वह यही पास है,
इसे चढ़ाने आयी हूँ॥

चरणों पर अर्पित है, इसको
चाहो तो स्वीकार करो।
यह तो वस्तु तुम्हारी ही है।
ठुकरा दो या प्यार करो॥

बालिका का परिचय

यह मेरी गोदी की शोभा
सुख सुहाग की है लाली।
शाही शान भिखारिन की है
मनोकामना मतवाली ॥

दीप-शिखा है अन्धकार की
घनी घटा की उजियाली।
ऊषा है यह कमल-भृङ्ग की
है पतझड़ की हरियाली ॥

सुधा-धार यह नीरस दिल की
मस्ती मगन तपस्वी की।
जीवन ज्योति नष्ट नयनों की
सच्ची लगन मनस्वी की ॥

बीते हुए बालपन की यह
क्रीड़ापूर्ण वाटिका है ॥
वही मचलना, वही किलकना
हँसती हुई नाटिका है ॥

मेरा मन्दिर, मेरी मसजिद
काबा - काशी यह मेरी ।
पूजा - पाठ, ध्यान-जप-तप है
घट-घट-वासी यह मेरी ।।

कृष्णचन्द्र की क्रीड़ाओं को
अपने आँगन में देखो।
कौशल्या के मातृमोद को
अपने ही मन में लेखो।

प्रभु ईसा की क्षमाशीलता
नबी मुहम्मद का विश्वास।
जीव दया जिनवर गौतम की
आओ देखो इसके पास।।

परिचय पूछ रहे हो मुझसे,
कैसे परिचय दूँ इसका !
वही जान सकता है इसको,
माता का दिल है जिसका।।

झाँसी की रानी

सिंहासन हिल उठे, राजवंशों ने भृकुटी तानी थी,
बूढ़े भारत में भी आयी फिर से नयी जवानी थी,
गुमी हुई आजादी की कीमत सबने पहचानी थी,
दूर फिरंगी को करने की सबने मन में ठानी थी,

चमक उठी सन् सत्तावन में
वह तलवार पुरानी थी।
बुन्देले हरबोलों के मुँह
हमने सुनी कहानी थी।
खूब लड़ी मर्दानी वह तो
झाँसी वाली रानी थी ॥

कानपूर के नाना की मुँहबोली बहन 'छबीली' थी,
लक्ष्मीबाई नाम, पिता की वह सन्तान अकेली थी,
नाना के सँग पढ़ती थी वह, नाना के सँग खेली थी,
बरछी, ढाल, कृपाण, कटारी उसकी यही सहेली थी,

वीर शिवाजी की गाथाएँ
उसको याद जबानी थीं।
बुन्देले हरबोलों के मुँह
हमने सुनी कहानी थी।
खूब लड़ी मर्दानी वह तो
झाँसी वाली रानी थी ॥

लक्ष्मी थी या दुर्गा थी वह स्वयं वीरता की अवतार,
देख मराठे पुलकित होते उसकी तलवारों के वार,
नकली युद्ध, व्यूह की रचना और खेलना खूब शिकार,
सैन्य घेरना, दुर्ग तोड़ना, ये थे उसके प्रिय खिलवार,

महाराष्ट्र-कुल-देवी उसकी
भी आराध्य भवानी थी।
बुन्देले हरबोलों के मुँह
हमने सुनी कहानी थी।
खूब लड़ी मर्दानी वह तो
झाँसी वाली रानी थी।।

हुई वीरता की वैभव के साथ सगाई झाँसी में,
ब्याह हुआ रानी बन आयी लक्ष्मीबाई झाँसी में,
राजमहल में बजी बधाई खुशियाँ छायीं झाँसी में,
सुभट बुन्देलों की विरुदावलि-सी वह आयी झाँसी में,

चित्रा ने अर्जुन को पाया,
शिव से मिली भवानी थी।
बुन्देले हरबोलों के मुँह
हमने सुनी कहानी थी।
खूब लड़ी मर्दानी वह तो
झाँसी वाली रानी थी।।

उदित हुआ सौभाग्य, मुदित महलों में उजयाली छायी,
किन्तु कालगति चुपके-चुपके काली घटा घेर लायी,
तीर चलाने वाले कर में उसे चूड़ियां कब भायीं,
रानी विधवा हुई हाय ! विधि को भी नहीं दया आयी,

निःसन्तान मरे राजा जी
रानी शोक-समानी थी,
बुन्देले हरबोलों के मुँह
हमने सुनी कहानी थी।
खूब लड़ी मर्दानी वह तो
झाँसी वाली रानी थी॥

बुझा दीप झाँसी का तब डलहौजी मन में हरषाया,
राज्य हड़प करने का उसने यह अच्छा अवसर पाया,
फौरन फौजें भेज दुर्ग पर अपना झण्डा फहराया,
लावारिस का वारिस बनकर ब्रिटिश राज्य झाँसी आया

अश्रुपूर्ण रानी ने देखा
झाँसी हुई बिरानी थी।
बुन्देले हरबोलों के मुँह
हमने सुनी कहानी थी।
खूब लड़ी मर्दानी वह तो
झाँसी वाली रारी थी॥

अनुनय विनय नहीं सुनता है, विकट फिरंगी की माया,
व्यापारी बन दया चाहता था जब यह भारत आया,
डलहौजी ने पैर पसारे अब तो पलट गयी काया,
राजाओं नव्वाबों को भी उसने पैरों ठुकराया,

रानी दासी बनी, बनी यह
दासी अब महारानी थी।
बुन्देले हरबोलों के मुँह
हमने सुनी कहानी थी।
खूब लड़ी मर्दानी वह तो
झाँसी वाली रानी थी॥

छिनी राजधानी देहली की, लिया लखनऊ बातों-बात,
कैद पेशवा था विठूर में, हुआ नागपुर का भी घात,
उदैपूर तंजोर, सतारा, करनाटक की कौन बिसात,
जब कि सिन्ध, पंजाब ब्रह्म पर अभी हुआ था वज्र-निपात,

बंगाले, मद्रास आदि की
भी तो यही कहानी थी।
बुन्देले हरबोलों के मुँह
हमने सुनी कहानी थी।
खूब लड़ी मर्दानी वह तो
झाँसी वाली रानी थी।।

रानी रोयीं रनिवासों में बेगम गम से थीं बेजार
उनके गहने-कपड़े बिकते थे कलकत्ते के बाज़ार,
सरे-आम नीलाम छापते थे अंग्रेजों के अखबार,
'नागपूर के जेवर ले लो, लखनऊ के लो नौलख हार',

यों परदे की इज्ज़त पर-
देशी के हाथ बिकानी थी।
बुन्देले हरबोलों के मुँह
हमने सुनी कहानी थी।
खूब लड़ी मर्दानी वह तो
झाँसी वाली रानी थी।।

कुटियों में थी विषम वेदना, महलों में आहत अपमान,
वीर सैनिकों के मन में था, अपने पुरखों का अभिमान,
नाना धुन्धूपन्त पेशवा जुटा रहा था सब सामान,
बहिन छबीली ने रण-चण्डी का कर दिया प्रकट आह्वान,

हुआ यज्ञ प्रारम्भ उन्हें तो
सोयी ज्योति जगानी थी।
बुन्देले हरबोलों के मुँह
हमने सुनी कहानी थी।
खूब लड़ी मर्दानी वह तो
झाँसी वाली रानी थी ॥

महलों ने दी आग, झोपड़ी ने ज्वाला सुलगायी थी,
यह स्वतन्त्रता की चिनगारी अन्तरतम से आयी थी,
झाँसी चेती, दिल्ली चेती, लखनऊ लपटें छायी थीं,
मेरठ कानपुर, पटना ने भारी धूम मचायी थी,

जबलपुर, कोल्हापुर में भी
कुछ हलचल उकसानी थी।
बुन्देले हरबोलों के मुँह
हमने सुनी कहानी थी।
खूब लड़ी मर्दानी वह तो
झाँसी वाली रानी थी ॥

इस स्वतन्त्रता-महायज्ञ में कई वीरवर आये काम
नाना धुन्धूपन्त, ताँतिया, चतुर अजीमुल्ला सरनाम,
अहमद शाह मौलवी, ठाकुर कुँवरसिंह सैनिक अभिराम,
भारत के इतिहास-गगन में अमर रहेंगे जिनके नाम,

लेकिन आज जुर्म कहलाती
उनकी जो कुरबानी थी।
बुन्देले हरबोलों के मुँह
हमने सुनी कहानी थी।
खूब लड़ी मर्दानी वह तो
झाँसी वाली रानी थी ॥

इनकी गाथा छोड़ चलें हम झाँसी के मैदानों में,
जहाँ खड़ी है लक्ष्मीबाई मर्द बनी मर्दानों में,
लेफ्टिनेण्ट वॉकर आ पहुँचा, आगे बढ़ा जवानों में,
रानी ने तलवार खींच ली, हुआ द्वन्द्व असमानों में,

जख्मी होकर वॉकर भागा,
उसे अजब हैरानी थी।
बुन्देले हरबोलों के मुँह
हमने सुनी कहानी थी।
खूब लड़ी मर्दानी वह तो
झाँसी वाली रानी थी॥

रानी बढ़ी कालपी आयी, कर सौ मील निरन्तर पार
घोड़ा थक कर गिरा भूमि पर, गया स्वर्ग तत्काल सिधार,
यमुना-तट पर अंग्रेजों ने फिर खायी रानी से हार,
विजयी रानी आगे चल दी, किया ग्वालियर पर अधिकार,

अंग्रेजों के मित्र सिंधिया
ने छोड़ी रजधानी थी।
बुन्देले हरबोलों के मुँह
हमने सुनी कहानी थी।
खूब लड़ी मर्दानी वह तो
झाँसी वाली रानी थी॥

विजय मिली, पर अंग्रेजों की फिर सेना घिर आयी थी,
अबके जनरल स्मिथ सन्मुख था, उसने मुँह की खायी थी,
काना और मन्दरा सखियाँ रानी के संग आयीं थीं,
युद्ध क्षेत्र में उन दोनों ने भारी मार मचायी थी,

पर, पीछे ह्यू रोज़ आ गया,
हाय ! घिरी अब रानी थी।
बुन्देले हरबोलों के मुँह
हमने सुनी कहानी थी।
खूब लड़ी मर्दानी वह तो
झाँसी वाली रानी थी॥

तो भी रानी मार-काटकर चलती बनी सैन्य के पार,
किन्तु सामने नाला आया, था यह संकट विषम अपार,
घोड़ा अड़ा, नया घोड़ा था, इतने में आ गये सवार,
रानी एक, शत्रु बहुतेरे, होने लगे वार पर वार,

घायल होकर गिरी सिंहनी
उसे वीर-गति पानी थी
बुन्देले हरबोलों के मुँह
हमने सुनी कहानी थी।
खूब लड़ी मर्दानी वह तो
झाँसी वाली रानी थी॥

रानी गयी सिधार, चिता अब उसकी दिव्य सवारी थी,
मिला तेज से तेज, तेज की वह सच्ची अधिकारी थी,
अभी उम्र कुल तेइस की थी, मनुज नहीं अवतारी थी,
हमको जीवित करने आयी बन स्वतन्त्रता नारी थी,

दिखा गयी पथ, सिखा गयी
हमको जो सीख सिखानी थी
बुन्देले हरबोलों के मुँह
हमने सुनी कहानी थी।
खूब लड़ी मर्दानी वह तो
झाँसी वाली रानी थी॥

जाओ रानी याद रखेंगे हम कृतज्ञ भारत वासी
यह तेरा बलिदान जगावेगा स्वतन्त्रता अविनाशी,
होवे चुप इतिहास, लगे सच्चाई को चाहे फाँसी
हो मदमाती विजय, मिटा दे गोलों से चाहे झाँसी

तेरा स्मारक तू ही होगी,
तू खुद अमिट निशानी थी।
बुन्देले हरबोलों के मुँह
हमने सुनी कहानी थी।
खूब लड़ी मर्दानी वह तो
झाँसी वाली रानी थी॥

राखी की चुनौती

बहिन आज फूली समाती न मन में।
तड़ित् आज फूली समाती न घन में।।
घटा है न फूली समाती गगन में।
लता आज फूली समाती न वन में।।

कहीं राखियाँ हैं चमक है कहीं पर,
कहीं बूँद है, पुष्प प्यारे खिले हैं।
ये आई है राखी, सुहाई है पूनो,
बधाई उन्हें जिनको भाई मिले हैं।।

मैं हूँ बहिन किन्तु भाई नहीं है।
है राखी सजी पर कलाई नहीं है।।
है भादों, घटा किन्तु छाई नहीं है।
नहीं है खुशी पर रुलाई नहीं है।।

मेरा बन्धु माँ की पुकारों को सुनकर,
के तैयार हो जेलखाने गया है।
छीनी हुई माँ की स्वाधीनता को
वह जालिम के घर में से लाने गया है।।

मुझे गर्व है किन्तु राखी है सूनी।
वह होता, खुशी तो क्या होती न दूनी?
हम मंगल मनावें, वह तपता है धूनी।
है घायल हृदय, दर्द उठता है खूनी॥

है आती मुझे याद चित्तौरगढ़ की,
धधकती है दिल में वह जौहर की ज्वाला।
हैं माता-बहिन रो के उसको बुझातीं,
कहो भाई तुमको भी है कुछ कसाला?

है, तो बढ़े हाथ, राखी पड़ी है।
रेशम-सी कोमल नहीं यह कड़ी है॥
अजी देखो लोहे की यह हथकड़ी है।
इसी प्रण को लेकर बहिन यह खड़ी है॥

आते हो भाई? पुनः पूछती हूँ—
कि माता के बन्धन की है लाज तुमको?
—तो बन्दी बनो, देखो बन्धन है कैसा,
चुनौती यह राखी की है आज तुमको।'

व्यथित हृदय

व्यथित है मेरा हृदय - प्रदेश
चलूँ उसको बहलाऊँ आज।
बताकर अपना दुख - सुख उसे
हृदय का भार हटाऊँ आज॥

चलूँ माँ के पद - पंकज पकड़
नयन जल से नहलाऊँ आज।
मातृ - मन्दिर में—मैंने कहा—
चलूँ दर्शन कर आऊँ आज॥

किन्तु यह हुआ अचानक ध्यान
दीन हूँ, छोटी हूँ, अज्ञान!
मातृ-मन्दिर का दुर्गम मार्ग
तुम्हीं बतला दो हे भगवान्!

मार्ग के बाधक पहरेदार
सुना है ऊँचे - से सोपान।
फिसलते हैं ये दुर्बल पैर
चढ़ा दो मुझको हे भगवान्!

अहा ! वे जगमग - जगमग जगी
ज्योतियाँ दीख रही हैं वहाँ।
शीघ्रता करो, वाद्य बज उठे
भला मैं कैसे जाऊँ वहाँ ?

सुनायी पड़ता है कल - गान
मिला दूँ मैं भी अपनी तान।
शीघ्रता करो, मुझे ले चलो
मातृ - मन्दिर में हे भगवान् !

चलूँ, मैं जल्दी से बढ़ चलूँ
देख लूँ माँ की प्यारी मूर्ति।
अहा ! वह मीठी - सी मुसकान
जगाती होगी न्यारी स्फूर्ति ।।

उसे भी आती होगी याद,
उसे ? हाँ, आती होगी याद।
नहीं तो रूठूँगी मैं आज
सुनाऊँगी उसको फरियाद ।।

कलेजा माँ का, मैं सन्तान,
करेगी दोषों पर अभिमान।
मातृ - वेदी पर घण्टा बजा,
चढ़ा दो मुझको हे भगवान् !!

सुनूँगी माता की आवाज,
रहूँगी मरने को तैयार।
कभी भी उस वेदी पर देव!
न होने दूँगी अत्याचार॥

न होने दूँगी अत्याचार
चलो, मैं हो जाऊँ बलिदान।
मातृ-मन्दिर में हुई पुकार
चढ़ा दो मुझको हे भगवान्!!

वीरों का कैसा हो वसन्त ?

वीरों का कैसा हो वसन्त ?
आ रही हिमाचल से पुकार,
है उदधि गरजता बार - बार,
प्राची, पश्चिम, भू, नभ अपार,
सब पूछ रहे हैं दिग् - दिगन्त,
वीरों का कैसा हो वसन्त ?

फूली सरसों ने दिया रंग,
मधु लेकर आ पहुँचा अनंग,
वधु-वसुधा पुलकित अंग - अंग,
हैं वीर वेश में किन्तु कन्त,
वीरों का कैसा हो वसन्त ?

भर रही कोकिला इधर तान,
मारू बाजे पर उधर गान,
है रंग और रण का विधान,
मिलने आये हैं आदि - अन्त,
वीरों का कैसा हो वसन्त ?

गलबाँहें हों, या हो कृपाण
चल - चितवन हो, या धनुष-बाण,
हो रस - विलास या दलित - त्राण
अब यही समस्या है दुरन्त,
वीरों का कैसा हो वसन्त'

कह दे अतीत अब मौन त्याग,
लंके, तुझ में क्यों लगी आग ?
ऐ कुरुक्षेत्र ! अब जाग, जाग,
बतला अपने अनुभव अनन्त,
वीरों का कैसा हो वसन्त ?

हल्दी - घाटी के शिला - खण्ड,
ऐ दुर्ग ! सिंह - गढ़ के प्रचण्ड,
राणा ताना का कर घमण्ड,
दो जगा आज स्मृतियाँ ज्वलंत,
वीरों का कैसा हो वसन्त ?

भूषण अथवा कवि चन्द नहीं,
बिजली भर दे वह छन्द नहीं,
है कलम बँधी, स्वच्छन्द नहीं
फिर हमें बतावे कौन ? हन्त !
वीरों का कैसा हो वसन्त ?

मेरा जीवन

मैंने हँसना सीखा है
मैं नहीं जानती रोना।
बरसा करता पल-पल पर
मेरे जीवन में सोना।

मैं अब तक जान न पाई
कैसी होती है पीड़ा?
हँस-हँस जीवन में कैसे
करती है चिन्ता क्रीड़ा?

जग है असार सुनती हूँ
मुझको सुख-सार दिखाता।
मेरी आँखों के आगे
सुख का सागर लहराता।

कहते हैं होती जाती
खाली जीवन की प्याली।
पर मैं उसमें पाती हूँ
प्रतिपल मदिरा मतवाली।

उत्साह, उमंग निरन्तर
रहते मेरे जीवन में
उल्लास विजय का हँसता
मेरे मतवाले मन में।

आशा आलोकित करती
मेरे जीवन के प्रतिक्षण।
हैं स्वर्ण-सूत्र से वलयित
मेरी असफलता के घन।

सुख भरे सुनहले बादल
रहते हैं मुझको घेरे।
विश्वास, प्रेम, साहस हैं
जीवन के साथी मेरे।।

स्वागत-साज

ऊषे सजनि ! अपनी लाली से
आज सजा दो मेरा तन,
कला सिखा खिलने की कलिके
विकसित कर दो मेरा मन।

हे प्रसून - दल ! अपना वैभव
बिखरा दो मेरे ऊपर,
मुझ - सी मोहक और न कोई
कहीं दिखायी दे भू पर।।

माधव ! अपनी मनोमोहिनी
मधु - माया मुझ में भर दो,
पलभर को कर कृपा सजीले !
मुझ को भी सज्जित कर दो।

अरी विहंगिनि ! गर्वीली,
ओ ऋतुपति के प्राणों की प्राण।
हे कलकंठ ! सिखा दे पल भर
के ही लिए मुझे कल गान।

अरी मयूरी ! नर्तन तेरा
मोहित करता है घन को,
मुझे सिखा दे कला, मोह लूँ
मैं अपने मन के घन को।

सखि ! मेरे सौभाग्य - सदन में
लाली छा जायेगी आज,
वे आयेंगे मुझे सजा दो
दे दे कर तुम अपना साज।

उस महान् वैभव के आगे
मैं भी ठहर सकूँ क्षण - भर।
उस विशालता के सम्मुख सखि !
मेरा भी कुछ हो क्षण - भर।

प्रभु तुम मेरे मन की जानो

मैं अछूत हूँ मन्दिर में आने का मुझको अधिकार नहीं है।
किन्तु देवता यह न समझना तुम पर मेरा प्यार नहीं है॥
प्यार असीम अमिट है फिर भी पास तुम्हारे आ न सकूंगी।
यह अपनी छोटी - सी पूजा चरणों तक पहुँचा न सकूंगी॥

इसीलिए इस अन्धकार में मैं छिपती-छिपती आयी हूँ।
तेरे चरणों में खो जाऊँ, इतना व्याकुल मन लायी हूँ॥
तुम देखो पहिचान सको तो तुम मेरे मन को पहिचानो।
जग न भले ही समझे, मेरे प्रभु तुम मेरे मन की जानो॥

मेरा भी मन होता है मैं पूजूं तुमको फूल चढ़ाऊँ।
और चरण - रज लेने को मैं चरणों के नीचे बिछ जाऊँ॥
मुझको भी अधिकार मिले वह जो सबको अधिकार मिला है।
मुझको प्यार मिले, जो सबको देव तुम्हारा प्यार मिला है॥

तुम सबके भगवान, कहो मन्दिर में भेदभाव कैसा?
हे मेरे पाषाण पसीजो बोलो क्यों होता ऐसा?
मैं गरीबिनी किसी तरह से पूजा का सामान जुटाती।
बड़ी साध से तुझे पूजने मन्दिर के द्वारे तक आती॥

कह देता है किन्तु पुजारी यह तेरा भगवाम नहीं है।
दूर कहीं मन्दिर अछूत का और दूर भगवान कहीं है॥
मैं सुनती हूँ जल उठती है मन में यह विद्रोही ज्वाला।
यह कठोरता, ईश्वर को भी जिसने टूक-टूक कर डाला॥

यह निर्मम समाज का बन्धन और अधिक अब सह न सकूँगी।
यह झूठा विश्वास प्रतिष्ठा झूठी इसमें रह न सकूँगी।।
ईश्वर भी दो है, यह मानूँ, मन मेरा तैयार नहीं है।
किन्तु देवता यह न समझना तुम पर मेरा प्यार नहीं है।।

मेरा भी मन है जिसमें अनुराग भरा है, प्यार भरा है।
जग में कहीं बरस जाने को स्नेह और सत्कार भरा है।।
वही स्नेह, सत्कार, प्यार मैं आज तुम्हें देने आयी हूँ।
और इतना तुमसे आश्वासन, मेरे प्रभु लेने आयी हूँ।।

तुम कह दो तुमको उनकी इन बातों पर विश्वास नहीं है।
छूत-अछूत, धनी-निर्धन का भेद तुम्हारे पास नहीं है।।

यही कवि की अंतिम रचना है।